अमृत वर्षा

अमृत
अमृत वर्षा

नारायण स्वामी

अमृत-वर्षा

[उपदेश व लेख]

श्री महात्मा नारायण स्वामी जी

प्रकाशक

राजपाल एण्ड सन्ज़

संचालक—आर्य पुस्तकालय

हॉस्पिटल रोड, लाहौर ।

चौथा संस्करण] [मूल्य डेढ़ रुपया

प्रकाशक :—

श्री विश्वनाथ एम० ए०

राजपाल एण्ड सन्ज़,

हौस्पिटल रोड, लाहौर।

मुद्रक :—

विश्वनाथ एम० ए०

आर्य प्रैस लिमिटिड,

मोहनलाल रोड, लाहौर।

विषय-सूची

—:०:—

पृष्ठ-संख्या

दो शब्द

प्रकाशकों की इच्छानुसार इस संग्रह को मैंने देखा और उसमें कहीं कहीं वृद्धि और संशोधन किया। आशा है जिस प्रकार जनता ने इस संग्रह को अपनाया है, आगे भी वैसा ही करने का यत्न करेंगे।

—नारायण स्वामी

२६-८-४४

भूमिका

पूज्यपाद महात्मा नारायण स्वामी जी के मनोहर उपदेशों को सुनने का मुझे कई वार सौभाग्य प्राप्त हुआ है। आप वेदों, उपनिषदों और सत्य शास्त्रों के गूढ़ रहस्यों को ऐसी सरल भाषा में और इतनी सुगम रीति से वर्णन करते हैं कि थोड़ी सी भी बुद्धि और विचार रखने वाला पुरुष ध्यान के साथ सुनने से उनको अच्छी तरह समझ सकता है और बिना अधिक परिश्रम के शास्त्रों के अध्ययन का आनन्द और लाभ उठा सकता है। आपका एक एक उपदेश इस योग्य होता है कि उसे स्थायी रूप से सुरक्षित कर लेने को जी चाहता है और मेरी तो देर से यह इच्छा रही है कि स्वामी जी के उपदेशों को एक लड़ी में पिरोकर आर्य भाइयों के स्वाध्याय के लिए एक ग्रन्थ की रचना की जाय, ताकि जिन सज्जनों को आपके उपदेशरूपी अमृत के पान करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ वे भी आपकी अमृतवर्षा से तृप्त हो सकें। परमात्मा का धन्यवाद है कि मेरी यह इच्छा आज पूर्ण हो रही है।

'अमृतवर्षा' श्री स्वामी जी के उपदेशों और लेखों का संग्रह है। मैं इसकी बड़ाई में कुछ कहना नहीं चाहता, पाठक पढ़कर इसका मूल्य स्वयं समझ सकेंगे।

हाँ, एक निवेदन मुझे अवश्य करना है कि ये उपदेश अध्ययन और मनन करने योग्य हैं—केवल पढ़ डालने के नहीं। साधारण पुस्तकों के समान पढ़ जाने से कुछ पल्ले नहीं पड़ेगा। इन्हें बारम्बार पढ़ना और हृदयंगम करना चाहिये।

इन उपदेशों के मनन से कुछ सज्जनों को भी कर्त्तव्य-मार्ग का ज्ञान हुआ तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

निवेदक

—संग्रहकर्ता

॥ ओ३म् ॥

अमृत-वर्षा

प्रभु का स्मरण

आत्मा के सूक्ष्मातिसूक्ष्म चक्षु को अपनी अनुपम मनोहारिणी मूर्ति की एक झलक दिखलाकर अनन्त काल के लिए उन्हें अपना खरीदार बना लेने वाले प्रभु ! मेरे हृदय की उजड़ी हुई नगरी में आप के स्मरण का एक धुन्धला-सा प्रकाश है जो प्रातःकाल के निकटवर्ती टिमटिमाते हुए दीपक के सदृश आशा और निराशा के मध्य में वर्तमान होकर अपने अभ्रमक ज्योतिस्तम्भ की ओर जाने का संकेत कर रहा है। संकेतित होकर हृदय उस ओर चलने को होता है कि पीछे से माया मोह के वे चपेटें लगने लगते हैं कि उसे विवश-सा होकर आगे से मुँह मोड़ कर पीछे की ओर मुँह मोड़ लेना पड़ता है। मुँह मोड़ते ही उस अपूर्व ज्योति की वह छटा, जिसने हृदय को अपनी ओर आकर्षित कर रक्खा था, अचानक ओझल हो जाती है और उसका स्थान माया मोह की 'तमासीत् तमसा गूढ़म्' वाली अन्धकारमयी अवस्था ले लेती है। हृदय चौंक उठता है, आँखें ज्योतिरहित-सी होने लगती हैं। जिस चीज़ को देखना नहीं चाहते थे क्यों वह सामने आ गई,

और जिस चीज़ को छोड़ना नहीं चाहते थे क्यों वह आँखों से ओझल हो गई—यही उलट फेर है जिसमें पड़ कर प्राणी आशा और निराशा के मध्य में वर्तमान है। किस प्रकार निराशा का बेड़ा ग़र्क़ हो और किस प्रकार आशा की नौका हाथ आ जावे, यह बल, प्रभो! आप ही के प्रेम-आधिक्य में है। इसलिए आप ही अपने प्रेमाकर्षण से मुझे खींचो, जिस से आप की ओर खिंच कर मेरे हृदय में भी वह प्रेम पैदा हो जावे जो द्वितीया के चन्द्रमा के सदृश हास की सीमा का उल्लंघन कर पूर्णता की ओर ही मुँह करने वाला होवे। इसमें कुछ अनोखापन भी न होगा, इसमें कुछ उलटा काम भी न करना होगा। इसमें चाहे निरालापन कितना ही क्यों न हो परन्तु प्रेम की दुनिया का तो यह नियम ही है कि प्रेम का प्रादुर्भाव प्रथम प्रेयसी के ही हृदय में होता है।

(२) हृदय के उजड़े हुए घर में प्रभु! आप ही के प्रेम का जलाया हुआ दीपक पिघल २ कर समाप्त हो चुका है—केवल एक ओर गिनती की एक किरण बाकी है। यदि वह भी बुझ गई तो फिर घर के वीरान हो जाने में क्या कसर बाकी रह जायेगी? भक्त का हृदय, प्रभु! कितना ही उजड़ा हुआ क्यों न हो, उसकी हालत कितनी ही टूटी-फूटी क्यों न हो, परन्तु है तो

यह आप ही का घर! यह तो मन्दिर है जिसमें आप

सदा निवास किया करते हैं, फिर क्या आप चाहेंगे
कि आपका घर प्रकाश-रहित हो जावे और उसमें ज्योति
की एक भी चमकती हुई रेखा बाकी न रहे?

(३) प्रेमी के हृदय का हाल न पूछो—उसकी अवस्था तो यह है कि मानो एक दर्द है जो भीतर ही भीतर उसका कलेजा मल रहा है, उसके हृदय को मसोस रहा है, आँखों से अश्रु-धारा प्रवाहित है, हिचकियाँ आ रही हैं परन्तु वह अपने ध्यान में मस्त है, विचारों में निमग्न है—उसे न दुःख की चिन्ता है न क्लेश का ग़म, अपने दुःख को किसी से कहना भी चाहे तो कहे किससे? यह दुःख क्यों है? यह उलझन कहाँ से आई? क्यों इन्होंने एक प्रेमी के हृदय को घेर रक्खा है। ये बातें तो उस पर भली भांति प्रकट ही हैं। प्रेम ही इनका कारण है। यही तो सन्तोष है, इस निराशा में यही तो आशा की एक झलकती हुई रेखा है—इसी सन्तोष और इसी आशा में प्रेमी प्रसन्न है—उसके लिए अब विघ्न विघ्न नहीं—क्लेश क्लेश नहीं—आहा! प्रेम की दुनिया ही निराली है। प्रेम का मार्ग ही विलक्षण है।

(४) क्यों माया मोह का अन्धकार मुझे पीछे खींच लेता है? इसका कारण मेरी ही कमी है—मेरी

भावना अभी स्वच्छ नहीं, उसमें निराशा का मोर्चा लगा हुआ है—मेरा विश्वास अभी ढीला है, इस में संदेह का मैल लगा हुआ है—मेरी श्रद्धा ने अभी अपना यथार्थ रूप धारण नहीं किया है, उसमें अभी 'किन्तु-परन्तु' का जाल बिछा हुआ है—इसलिए जब कमी अपनी ही है तो फिर किस से, क्यों, और किस की शिकायत की जाय ? किसी को अपना दुःख सुनाया भी जाय तो क्यों ? क्या हम स्वयं ही अपनी कमियों का ढिंढोरा पीटें ? क्या हम स्वयं अपनी ही पैदा की हुई त्रुटियों की कहानी सुनावें ?

(५) इसलिए प्रभु ! अपने निर्बल पाँव से जितना भी हो सकेगा आपकी ओर दौड़ेंगे, अपने मलीन हृदय से जितना भी हो सकेगा आप का चिंतन करेंगे, आप की ओर, हाँ एकमात्र आप ही की प्राप्ति की इच्छा करेंगे, यत्न करेंगे और जो कुछ कर सकते हैं सब कुछ करेंगे। कभी न करते हुए भी एक विश्वास है जो कभी हृदय से न जायगा, कि आप का प्रकाश यदि हृदय में आ सकता है तो उसका कारण हमारा यह निर्बल पुरुषार्थ न होगा, उसका कारण तो आप और एकमात्र आप ही की दया होगी—

मिलना ना मिलना उनका तो है उनके हाथ में।
पर तुझ को चाहिए कि तगो दो लगी रहे॥

भक्ति-मार्ग

प्रारम्भ

पौराणिक काल में इस भक्ति शब्द का यथा-सम्भव अनादर और दुरुपयोग हुआ और अब भी उसका एक दर्जे तक ऐसा ही अनादर और दुरुपयोग हो रहा है। निकृष्ट से निकृष्ट, और घृणित से घृणित अनेक कार्य इसी भक्ति के पर्दे में हुए और हो रहे हैं। एक व्यक्ति शिव के मन्दिर में जाकर मुँह बनाकर, शिव को लक्ष्य करके, बकरे की बोली बोलता है और इस कृत्य से अपने को शिव का भक्त समझता है। दूसरा व्यक्ति अच्छी तरह पाँवों में घुँघरू बाँधकर, नाच के नियमानुकूल नाचता है और बहुत पहुँचा हुआ भक्त समझा जाता है। तीसरा आदमी पुरुष हो या स्त्री, अपना सर्वस्व गुरु के अर्पण करता है और वह उच्चतम भक्त समझा जाता है। मैं एक बार अयोध्या गया हुआ था, मुझे वहाँ कई लोगों ने बतलाया कि यहाँ सरकारी शिक्षा-विभाग के एक पेन्शिनर रहते हैं। वे बड़े योगी और भक्त हैं। उन्हें योगी सुनकर मेरी भी इच्छा हुई कि उनके दर्शन करूँ। कुछ एक अपरिचित पुरुषों के साथ, जो उन्हीं महापुरुष के दर्शनार्थ जा रहे थे, मैं भी वहाँ गया। आध घण्टे से अधिक प्रतीक्षा करने के बाद एक साधा-

रण-सा व्यक्ति जिसके पैरों में घूँघरू बँधे थे, आया और विना कुछ कहे सुने आकर नाचने लगा। कुछ देर जब उसे नाचते हो गई तब मैंने व्यर्थ समय नष्ट होते देख कर लोगों से पूछा कि आख़िर वे योगिराज कब आवेंगे ? तो उत्तर मिला कि यही तो वे भक्तराज हैं। तब मैंने अपने भाग्य को सराहा और उठ कर चल दिया। जिस व्यक्ति के चेहरे पर भक्ति का कोई प्रभाव नहीं, जिसके नाच में भी भक्ति और प्रेम का आवेश न था और सब का सब बनावट और ढोंग ही दिखाई पड़ता था, ऐसे लोग भी भक्त कहे जाते हैं ! कलकत्ते के गोविन्द-भवन की भक्ति का भाण्डा तो अभी कुछ दिन हुए फूट ही चुका है। अस्तु, उपर्युक्त पंक्तियों का निष्कर्ष यह है कि भक्ति की आजकल भी कम मिट्टी पलीत नहीं की जा रही है। आखिर भक्ति चीज़ क्या है ? इसी प्रश्न का उत्तर देना इन पंक्तियों का उद्देश्य है।

भक्ति के अर्थ

भक्ति शब्द के अर्थ भिन्नता, विभाग, अनुराग, श्रद्धा, मान-प्रदर्शन, सेवा, बनावट, सजावट—इत्यादि हैं। इस प्रकार अनेक अर्थ होते हुए प्रश्न यह है कि भक्ति का भाव जिससे प्रकट हो इनमें से वह अर्थ कौन-सा है ?

इन अनेक अर्थों में से तीन अर्थ हैं जिनसे भक्ति का भाव व्यक्त होता है या जिनसे भक्ति के उद्देश्य की पूर्ति होती या हो सकती है। वे हैं (१) भिन्नता (२) विभाग और (३) श्रद्धा—इनसे किस प्रकार भक्ति की सिद्धि हो सकती है, इसी पर विचार करना है।

(१) भिन्नता—भक्त के लिये प्रारम्भिक बात यह है कि वह अपने को उपासक, प्रेमी और भक्त समझे और अपने इष्टदेव को उपास्य, प्रेष्ठ और प्रियतम समझे। भक्ति के इस अंश "भिन्नता" का उद्देश्य यह है कि प्रेम अपने प्रियतम प्रभु की अधिक से अधिक समीपता प्राप्त करे, और वह समीपता इतनी अधिक बढ़ावे कि प्रेमी को अपने प्रेष्ठ और प्रियतम के प्रेम में इतना लवलीन कर देवे कि जिससे प्रेमी अपनी सुध-बुध बिसार दे और उसे अपने भीतर और बाहर हर तरफ अपना प्रियतम ही दिखलाई देने लगे और यह चरितार्थ होने लगे कि 'जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है।' अथवा अमीर-खुसरो के शब्दों में "मन तो शुदम, तो मन शुदी, मन तन शुदम, तो जां शुदी। ताकस न गोयद बाद अज़ीं मन दीगरम तो दागरी" अर्थात् "मैं तू हो जाऊँ और तू मैं हो जा, मैं शरीर बनूँ और तू उसका प्राण हो जा, जिससे

फिर कोई न कह सके कि मैं दूसरा हूँ और तू दूसरा।"

श्वेताश्वतरोपनिषत् में इसीलिए कहा गया है कि मनुष्य जब तक इस द्वैत (भिन्नता) का अनुभव नहीं करता तब तक ईश्वर को प्राप्त ही नहीं कर सकता।

(२) विभाग—भक्ति का दूसरा अंश विभाग है। उपासक को अपने अन्तःकरण और उसके विभाग को समझ कर उनसे इस प्रकार काम लेना चाहिए कि जिससे वे उपासक के हृदय में उत्कृष्ट प्रेम पैदा करने के साधन बन सकें। अन्तःकरण के वे विभाग क्या हैं, उनका अत्यन्त संक्षेप से यहाँ उल्लेख किया जाता है।

इच्छा शक्ति—इच्छा शक्ति (Will Power) असल में इच्छा नहीं है बल्कि शक्ति है और वह मनुष्य के मस्तिष्क में, सब से ऊपर उस स्थान में जिसे योगी सहस्रदल कहते हैं रहती है। इस शक्ति के जागृत होने से मनुष्य उपासना के उच्चक्षेत्र में पग धरता है और इसी शक्ति के जागृत करने के लिए अन्तःकरणों में से प्रत्येक करण के सदुपयोग करने की ज़रूरत है।

मेधावी बुद्धि—मस्तिष्क के ऊपरी भाग ही में शक्ति-भण्डार से ठीक नीचे उत्कृष्ट अथवा प्रेरित या मेधावी बुद्धि का स्थान है जिससे काम लेने से उपासक में श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न होते हैं।

तार्किक बुद्धि—मेधावी बुद्धि से नीचे से मस्तिष्क

के प्राय: मध्य में साधारण या तार्किक बुद्धि का स्थान है। जिससे काम लेकर उपासक सत्यासत्य का विवेक करके सत्य का ज्ञान प्राप्त करके उसे ग्रहणीय और असत्य को त्याज्य समझता है।

सन्देश तन्तु—शिर का निचला भाग मन से सम्बन्धित संदेश-तन्तुओं का स्थान है जिनसे काम लेकर मनुष्य ज्ञान (Understanding) प्राप्त किया करता है। ये तन्तु स्वभावत: अनिच्छितरीति (Passive activities of mind) से शरीर में आत्मा की सत्ता मात्र से काम किया करते हैं। परन्तु इन पर अधिकार प्राप्त करने से अनेक विशेषताएँ उपासक में पैदा होती हैं।

मन—वक्ष में हृदय से ठीक ऊपर इन्द्रियों के नियन्ता मन का स्थान है।

चित्त—जो स्मृति, वासना और संस्कार का भण्डार और जिससे भावों (Emotions) का भी सम्बन्ध है, हृदय और नाभि के मध्य में रहता है।

सूक्ष्म प्राण—चित के नीचे सूक्ष्म (Psychic) प्राण रहते हैं।

यह है अन्त:करणों का विवरण। इन्हें यन्त्रवत् समझें। आत्मा इन यन्त्रों से काम लेने वाला यन्त्री है और काम लेने का साधन विद्युत् या गतिदायिनी शक्ति (Electricity or motive power) वही शक्ति है।

इच्छा शक्ति इन यन्त्रों द्वारा सारा काम किया करती है। बुद्धि के द्वारा विचार और ज्ञान, मन के द्वारा इन्द्रिय-व्यापार, चित्त के द्वारा भावुकता और प्राण के द्वारा भोग के लिये काम होता है—जब प्रत्येक अन्तःकरण अपने विभाग की सीमा में रहते हुए काम करता है तब इच्छा शक्ति के काम में बाधा न पड़ने से उसका विकास और वृद्धि होती है।

शक्ति के काम में विघ्न

(१) जब प्राण, इन्द्रिय-व्यापार, भाव और विचार में दख़ल देता है तब मनुष्य में विषयों के भोगने की प्रवृत्ति बढ़कर मनुष्य को अपना गुलाम बना लेती है।

(२) जब चित्त, मन (इन्द्रिय-व्यापार) और बुद्धि (विचार) के काम में दख़ल देता है तब मनुष्य में भावुकता बढ़कर मन और बुद्धि दोनों को निकम्मा कर देती है।

(३) जब तार्किक बुद्धि, मेधावी बुद्धि के काम में दख़ल देती है तब मनुष्य श्रद्धाहीन कुतर्की बनता है।

(४) जब विश्वास-वर्धिनी बुद्धि तार्किक बुद्धि के काम में दख़ल देती है तब मनुष्य अन्धविश्वासी बन जाता है।

इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य अपने भीतर होने वाले, आन्तरिक कार्यों को समझे और उनमें से प्रत्येक को सीमा में रखते हुए उनसे काम ले जिससे मनुष्य के भीतर शक्ति (आत्मबल) बढ़े

और उत्कृष्ट प्रेम की वृद्धि का कारण बने।

श्रद्धा—भक्ति का तीसरा अंश 'श्रद्धा' है, अर्थात् सत्य का ग्रहण करना। भक्ति के दूसरे अंश से सत्य का ज्ञान प्राप्त करके श्रद्धा के द्वारा उसे ग्रहण कर लेना चाहिए। ग्रहण करने का भाव यह है कि सत्य उसके हृदय में अङ्कित हो जावे और मनुष्य उसके विपरीत कुछ करने के अयोग्य हो जावे।

इस प्रकार इन तीनों साधनों से काम लेकर मनुष्य भक्ति की प्राप्ति का अधिकारी, आत्म-बलवान् और द्वैत से अद्वैत की ओर चलने वाला होता है। और इस अधिकार और बल को जप और ध्यान में लगा कर उत्कृष्ट भक्ति या सर्वश्रेष्ठ प्रेम को अपने हृदय में उत्पन्न करके प्रभु का भक्त तथा वैसा ही प्रेमी बन जाया करता है जिसका ऊपर ज़िक्र किया गया है।

आत्मबल की आवश्यकता

वह सामने युद्ध-क्षेत्र है। देखो दोनों पक्षों के वीर योद्धा किस प्रकार सज-धज कर अपनी अपनी वीरता का परिचय देने के लिये अपने अपने स्थानों पर डटे हुए हैं। सेनापतियों ने अपने अपने शंख (बिगुल) बजाने की आज्ञा दे दी है। सब ने समझ लिया कि परीक्षा का समय आ गया। एक पक्ष का सेनाध्यक्ष युद्ध के लिये अपने उपसेनापति को आज्ञा देता है कि युद्ध प्रारम्भ करे। उसका समस्त सेना से परिचय हो गया, उसने खूब समझ लिया कि यह सेना उसके इशारे पर चलने को तैयार है और यह भी कि सेना के अधिकार में पुष्कल युद्ध-सामग्री और हथियार हैं। दूसरी सेना योग देने के लिये भी पीछे तैयार खड़ी है। यह सब कुछ होते हुए भी उपसेनापति का हृदय स्थिर नहीं है। वह सोच रहा है कि युद्ध के सदैव दो पहलू हुआ करते हैं कहीं आज उसके निकृष्ट पहलू ही का सामना न करना पड़े। इसी आत्मविश्वास की कमी से उसका पाँव आगे नहीं बढ़ता, वह किसी को युद्ध के लिये उत्साहित नहीं कर सकता। उसका चेहरा पीला पड़ने लगा, मुख पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। हाथ-पाँव जवाब-सा देते दिखलाई देते हैं। यह जब क्यों हो रहा है ? उपसेनापति की यह दुरवस्था

क्यों है ? एक मात्र उत्तर, जो दिया जा सकता है, यह है कि, "आत्मबल की कमी से"।

(२) एक व्यापारी को समाचार मिलता है कि रूस में इस समय दुर्भिक्ष का प्रकोप है, अन्न की वहाँ बेहद माँग है, यदि वहाँ बहुत-सा गेहूँ ले जावे तो बहुत मुनाफ़े से बिक सकता है। व्यापारी के पास गेहुओं का बहुत-सा स्टाक मौजूद भी है। भाड़े के लिये जापानी जहाज़ भी तैयार खड़े हैं, और सस्ते भाड़े से वे अन्न रूस की बन्दरगाह 'ब्लाडी वास्टक' तक पहुँचा देने के लिये उत्सुक भी हैं। परिस्थिति इतनी अनुकूल होते हुए भी व्यापारी सोचने लगा है कि कहीं समुद्री वायु अनुकूल न रहे और कोई तूफ़ान आकर बेड़ा ग़र्क़ कर दे। वह इसी किन्तु-परन्तु में पड़ा हुआ था कि जहाज़ अन्य व्यापारियों का माल लाद कर चल दिए। बन्दरगाह जहाज़ों से खाली हो गया। अन्य व्यापारियों को माल ले जाते देख इसने भी निश्चय कर लिया कि मुझे भी गेहूँ ले ही चलना चाहिए। परन्तु अब उसे जहाज़ नहीं मिलते और वह बन्दरगाह पर खड़ा आँखें फैला फैला कर इधर-उधर देख और पछता रहा है। परन्तु 'अब पछताए का होत है जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत' क्यों इस व्यापारी को अवसर चूक कर पछताना पड़ा? उत्तर, "आत्मबल की कमी से"।

(३) एक नवयुवक है, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी का ग्रेजुएट है, एल० एल० बी० की परीक्षा भी पास कर चुका है। परन्तु न कहीं नौकरी मिल रही है और न वकालत करने से कुछ पैसे मिल रहे हैं। लोग सलाह दे रहे हैं कि तुम्हारे पास धन है, इस समय जर्मनी का युद्ध जारी होने से चमड़े के बटनों की बहुत जरूरत है, यदि तुम एक कारख़ाना खोल कर चमड़े के बटन बनवाना शुरू कर दो तो तुम्हें भी आगरे के दयालबाग वालों की तरह से मुनाफ़ा हो सकता है और तुम नौकरी और वकालत की परतन्त्रता से बच कर स्वतन्त्रता का जीवन भी व्यतीत करने लगोगे। परन्तु उस नवयुवक की समझ में यह बात नहीं आ रही है, वह सोचता है कि इस प्रकार का काम हमारे परिवार में कभी नहीं हुआ है और मैं भी इस काम से अनभिज्ञ ही हूँ, किस प्रकार यह नया काम शुरू किया जा सकता है ? क्यों यह नवयुवक इस सुनहरी अवसर को खो रहा है ? इसका भी कारण वही 'आत्मबल की कमी' है।

ये उदाहरण स्पष्ट कर रहे हैं कि आत्मबल की कमी से मनुष्य किस प्रकार लोक कार्य में भी असफल रहा करता है। आत्मबल की ज़रूरत न केवल परलोक के लिये है, बल्कि वैसी ही उसकी आवश्यकता संसार के कामों को चलाने के लिये भी है। यह आत्मबल ईश्वर

पर विश्वास रखते हुए सचाई पर अमल करने से प्राप्त हुआ करता है। इसलिए इस समय की सब से बड़ी आवश्यकतायें यही दो हैं—

(१) ईश्वर पर विश्वास, (२) मन, वाणी और कर्म से सत्याचरण। सफलता का मुँह देखने की इच्छा करने वालों को इसी लिए इधर प्रवृत्त होना चाहिए।

प्राणियों को आगे बढ़ते रहने के लिए दो नियमों की ज़रूरत होती है, (१) फैलाव (Expansion) (२) संकोच (Contraction), पहिला नियम सदैव काम में आता ही रहता है, परन्तु दूसरा कभी-कभी आवश्यकता पड़ने पर काम में लाया जाता है। प्राणी भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं को अपनी रुचि और आवश्यकता के अनुकूल भोजन के काम में लाता है और उन्हें पचा कर अपना विस्तार करता रहता है। परन्तु भय उपस्थित होने पर चाहे वह ऋतुओं के द्वारा उत्पन्न हुआ हो, या प्राणियों की ओर से, मनुष्य अपने को सिकोड़ लेता है। उस भय के दूर होने पर फिर वह पूर्ववत् अपना फैलाव करने में लग जाता है। फैलाव नियम है परन्तु संकोच इस नियम का अपवाद—नियम सार्वकालिक होता है परन्तु अपवाद सामयिक।

जाति को भी आगे बढ़ने (उन्नति करने) के लिये इन्हीं दो नियमों की ज़रूरत होती है। विस्तार के नियमानुसार आर्य-जाति ने हून, सिथियन आदि अनेक अनार्य जातियों को समय-समय पर अपने भीतर जज़्ब करके अपना विस्तार किया, परन्तु जिस समय अपवाद के तौर पर भय का समय मुसलमान

जाति का राज्य आया, तब जाति ने संकोच के दूसरे नियम से काम लिया, परन्तु यत्नवान् रही कि वह भय का समय दूर हो। उस प्रतिकूल समय के दूर होने में यद्यपि काफ़ी समय लगा, परन्तु आर्य्य जाति के वीरों ने उसे दूर कर दिया। चाहिए तो यह था कि उस अपवाद के समय के दूर हो जाने पर जाति फिर विस्तार की ओर चल देती, परन्तु फ्रांस के उस क़ैदी की तरह, जो ४० वर्ष के बाद जेलख़ाने से छूटने पर जेल वालों से कहने लगा कि वह घर नहीं जाना चाहता, अपितु जेल में ही रहना चाहता है, हिन्दू-जाति भी अपवाद वाले समय में किए हुए संकोच के कर्मों को छोड़ना नहीं चाहती। यही जाति का दुर्भाग्य है। वे संकोच के कर्म ये थे—

(१) बालिकाओं की रक्षा के लिये थोड़ी आयु में उनके विवाह कर देना।

(२) खान-पान में छूत-छात की अधिकता, जिससे अभक्ष्य के सेवन से बचे रहें।

(३) विवाह दूर देश में न करके समीप ही करना जिससे लुटेरों की लूट-मार से बचे रहें।

संकोच के पहिले कर्म से बाल-विवाह जारी हुआ, दूसरे से छूत-छात प्रचलित हुई और तीसरे से छोटी छोटी जातियाँ और उपजातियाँ बन गईं, जिनका रोटी-बेटी का

सभी सम्बन्ध पृथक् पृथक् छोटी छोटी सीमा के भीतर हो गया। इन और इस प्रकार के संकोच के अन्य क्रमों ने जाति का दृष्टिकोण अत्यन्त संकीर्ण बनाया, जिससे जाति के अन्तर्गत प्रेम का अभाव और ईर्ष्या-द्वेष तथा घृणा की वृद्धि हुई और इस प्रकार विशाल आर्य जाति छोटे छोटे टुकड़ों में बँट गई, जातीयता का अभाव हुआ। भारत देश वही है जो पहले था, वही हिमालय, वही गंगा, परन्तु जहाँ ये सब विस्तार की अवस्था में हर्षप्रद थे, अब ये हर्षप्रद नहीं रहे। ब्रह्मचर्य के अभाव से बल कम हुआ, बल के अभाव से धन की कमी हुई। पहाड़ों में ब्राह्मण और क्षत्रिय कहलाने वाले पशु बन कर गाड़ियाँ खींचते हैं, धनियों को अपने सिर पर लादते हैं। जाति सदैव झोंपड़ी में रहने वालों से बना करती है, उनकी यह दुर्दशा हुई। धनियों को व्यसनों ने घेरा। दूध की जगह चाय और शराब, मक्खन की जगह खटाई और चटनी। गिज़ा हज़म नहीं हो सकती है ? पूछो, क्या खाते हो, उत्तर मिलता है तीन रोटियाँ; बतलाओ बलशाली जाति किस प्रकार बन सकती है ? बालक जवान नहीं होते, किन्तु बूढ़े हो जाते हैं। जो समय इन्द्रियों के विस्तार का था वह गृहस्थ के झंझट में व्यय होता है। हम उस जाति के प्रतिनिधि हैं, जिससे दुनियाँ में आत्मिकोन्नति का नाम ऊँचा किया

हुआ था। विदेशियों के कारनामे पढ़ो। सच बोलने में आर्य, अपना उदाहरण नहीं रखते थे। परन्तु हम धर्म का कार्य दूसरों से कराने लगे। जाति का ज्ञान मुट्ठी भर आदमियों के हाथ में आ गया वे उसका दुरुपयोग करने लगे। ब्रह्मयज्ञ (सन्ध्या) की जगह नहाते समय राम-राम, कृष्ण-कृष्ण कहना बाकी रह गया। देवयज्ञ की जगह अंग्यारी होने लगी, पितृयज्ञ की जगह वर्ष में एक दिन नियत हो गया। यही हाल अन्य यज्ञों का हुआ। जो जाति अपनी विधवाओं के साथ अच्छा सलूक न करती हो, कन्याओं को बेचती हो, करोड़ों नर-नारियों को अछूत समझती हो, वह फल-फूल नहीं सकती। धर्म के साथ धोखा करने से धर्म धोखा देने वालों को कुचल देता है। हिन्दू-जाति ने धर्म के साथ धोखा किया; अकर्मण्य रहते हुए, दूसरों के जप और कर्मों से अपने को धर्मात्मा समझा और कुचली गई। दुःख की बात अवश्य है, परन्तु आश्चर्य की कुछ नहीं। समय था कि भाई लक्ष्मण और भरत से होते थे, माता कौशिल्या और सुमित्रा जैसी होती थीं। जाति का ईश्वर एक था; वेद एक थे, संस्कार एक थे, जाति एक थी। परन्तु अलग अलग ईश्वर होने से अपनी २ डफली और अपना २ राग होकर जाति टुकड़े २ हो गई। संसार शक्ति और चरित्र का मान करता है, पंजरों का नहीं। प्रचलित

हिन्दू-जाति प्राचीन आर्य जाति का केवल पंजर ही पंजर है। यदि हिन्दुओं के दिल खोल कर देखे जावें तो सैकड़ों कटी रेखायें दिखाई देंगी, जुड़ी हुई कोई रेखा नज़र न आवेगी। ये सब उसी संकोच के कर्मों पर जमे रहने का फल है। यदि अब भी हिन्दू-जाति अपने इस बेढंगेपन को नहीं बदलती और विस्तार और फैलाव के सार्वत्रिक नियम पर आचरण करना नहीं शुरू करती, तो समझ लो कि वह स्वयमेव अपने पाँवों में कुल्हाड़ी मार कर अपने को नष्ट करना चाहती है।

दुःखों की औषधि

प्रभु की महिमा

बड़े से बड़े दुःख, बड़ी से बड़ी मुसीबत व कष्ट करुणानिधान, करुणाकर, करुणामय प्रभु के स्मरण से कम होते हैं और जाते रहते हैं। वही असहायों का सहाय, निराश्रितों का आश्रय, निरावलम्बों का अवलम्बन है। दुनियां के बड़े २ वैद्य, डाक्टर, राजा महाराजा और साहूकार प्रसन्न होने पर केवल शारीरिक कल्याण का कारण बन सकते हैं, परन्तु मानसिक व्यथा से व्यथित नर-नारी की शान्ति का कारण तो वही प्रभु है, जो इस हृदय-मन्दिर में विराजमान है और दुनियाँ के लोगों की तरह उसका सम्बन्ध मनुष्यों से केवल शारीरिक नहीं, किन्तु मानसिक और आत्मिक भी है। वही है, जो गर्भ में जीवों की रक्षा करता है; वही है, जो वहाँ कीट-पतंगों की भी रक्षा करता है, जहाँ मनुष्य की बुद्धि भी नहीं पहुँच सकती। एक पहाड़ का भाग सुरंग से उड़ाया जाता है, पहाड़ के टुकड़े २ हो जाते हैं, एक टुकड़े के भीतर देखते हैं कि एक तुच्छ कीट है, जिसके पास कुछ दाने अन्न के भी पड़े हैं, बुद्धि चकित हो जाती है, तर्क काम नहीं देता, मन के संकल्प विकल्प थक जाते हैं, यह कैसा चत्कार है, हम स्वप्न तो नहीं

देख रहे हैं ? भला इस कठोर हृदय पत्थर के भीतर यह कीट पहुँचा तो पहुँचा कैसे ? और उसको वहाँ ये दाने मिले कैसे ? कुछ समझ में नहीं आता, मनुष्य के जब दिमाग थक जाते हैं और काम नहीं करते, तो वह आश्चर्य्य के समुद्र में डुबकियाँ लेने लगता है, अन्त में तर्क और बुद्धि का हथियार डाल कर मनुष्य बेसुध-सा हो जाता है। अनायास उसका हृदय श्रद्धा और प्रेम से पूरित हो गया, ईश्वर की इस महिमा के सामने सिर झुक पड़ा और हृदय से एक साथ निकल पड़ा कि प्रभु ! आप विचित्र हो, आपके कार्य्य भी विचित्र हैं ! आपकी महिमा समझने में बुद्धि निकम्मी और मन निकम्मा बन रहा है, आप ही अन्तिम ध्येय और आश्रय हो, आपके ही आश्रित होने से दुःख, दुःख नहीं रहते, कष्ट, कष्ट नहीं प्रतीत होते। आपके ही आश्रय में आने से इन नर-नारियों के कष्ट दूर होंगे।

जगत् स्वार्थमय है

जगत् में प्राणियों के वियुक्त होने पर जो दुःख अवशिष्ट परिवार को हुआ करता है, उसका हेतु यह नहीं होता कि वियुक्त प्राणी उन्हें बहुत प्रिय था, बल्कि असली कारण यह होता है कि वियुक्त प्राणियों के साथ अवशिष्ट परिवार के स्वार्थ जुड़े थे, और वियोग स्वार्थ-सिद्धि में बाधक होता है। बस, असली

दुःख इतना ही होता है कि स्वार्थ-हानि हुई। जिसे पुत्र का शोक है, वह केवल इसलिए कि उसने पुत्र को बुढ़ापे की लाठी समझ रक्खा था। पुत्र क्या मरा मानों उसके बुढ़ापे की लाठी छिन गई। अब चिन्ता केवल इस बात की है कि बुढ़ापे में सहारा कौन देगा। जिसे माता-पिता का दुःख है, वह भी अपने ही स्वार्थ के लिये कि अब उसका पालन-पोषण कौन करेगा। जिसे स्त्री का दुःख है, वह भी केवल अपने ही स्वार्थ के लिये कि जो सुख स्त्री से मिला करता था, वह अब नहीं मिलेगा। अतः यह स्पष्ट है कि जिसे मृत्यु का शोक कहते हैं, वह शोक असल में बन्धु-बाँधवों के लिए नहीं, किन्तु अपने ही स्वार्थ में बाधा पहुँचने से किया जाता है।

याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी और मैत्रेयी को यही उपदेश कितने सुन्दर शब्दों में दिया था :—

याज्ञवल्क्य का उपदेश

याज्ञवल्क्य—अरे मैत्रेयि! निश्चय पति की कामना के लिये पत्नी को पति प्रिय नहीं होता, किन्तु अपनी कामना के लिये पति प्रिय होता है ॥१॥

निश्चय भार्या की कामना के लिये पति को भार्या प्रिया नहीं होती, किन्तु अपनी कामना के लिये ही भार्या प्रिया होती है ॥२॥

निश्चय पुत्रों की कामना के लिए (माता-पिता) को

पुत्र प्रिय नहीं होते, किन्तु अपनी कामना के लिये ही पुत्र प्रिय होते हैं ॥३॥

निश्चय धन की कामना के लिए (मनुष्य को) धन प्रिय नहीं होता, किन्तु अपनी कामना के लिए धन प्रिय होता है ॥४॥

निश्चय ब्राह्मण की कामना के लिए (मनुष्य को) ब्राह्मण प्रिय नहीं है, किन्तु अपनी कामना के लिए ब्राह्मण प्रिय होता है ॥५॥

निश्चय क्षत्रिय की कामना के लिए (मनुष्य को) क्षत्रिय प्रिय नहीं होता किन्तु अपनी कामना के लिए क्षत्रिय प्रिय होता ॥६॥

निश्चय लोकों की कामना के लिये (मनुष्य को) लोक प्रिय नहीं होते, किन्तु अपनी कामना के लिए ही लोक प्रिय होते हैं ॥७॥

निश्चय देवों की कामना के लिए (मनुष्य को) देव प्रिय नहीं होते किन्तु अपनी कामना के लिए देव (विद्वान्) प्रिय होते हैं ॥८॥

निश्चय भूतों (प्राणी-अप्राणी) की कामना के लिए (मनुष्य को) भूत प्रिय नहीं होते, किन्तु अपनी कामना के लिए ही प्रिय होते हैं ॥९॥

निश्चय सब की कामना के लिए (मनुष्य को) सब

प्रिय नहीं होते, किन्तु अपनी कामना के लिए ही सब कुछ प्रिय होते हैं ॥ १० ॥

मृत्यु का दुःख

इस सम्पूर्ण उपदेश का सार यही है कि समस्त प्राणी और अप्राणी केवल अपनी ही कामना के लिये मनुष्य को प्रिय होते हैं। यदि मनुष्य में किसी प्रकार से वह योग्यता आ जाये कि वह अपने सम्बन्धियों स्त्री-पुत्रादि के साथ जो उसने कामना जोड़ी हुई है, उसे पृथक् कर लेवे, तो क्या उस समय भी मनुष्य को किसी की मृत्यु का दुःख हो सकता है। इसका निश्चित उत्तर यह है कि फिर दुःख कैसा ? दुःख तो सारा स्वार्थ-हानि ही का होता है—यदि वियुक्त और अवशिष्ट दोनों के बीच में स्वार्थ का सम्बन्ध न हो, तो फिर किसी को मृत्यु क्लेशित नहीं कर सकती। जगत में प्रतिदिन सहस्रों मनुष्य उत्पन्न होते और मरते हैं। परन्तु हमें न उनके पैदा होने का हर्ष होता है और न उनके मरने का शोक। क्यों हर्ष और शोक नहीं होता ? कारण स्पष्ट है कि उनकी उत्पत्ति के साथ हम स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं जोड़ते, इसलिए उनके जन्म का हमें कुछ भी हर्ष नहीं होता और चूँकि उनके जीवनों के साथ हमारा स्वार्थ भी जुड़ा हुआ नहीं होता, इसलिए उनके जीवनों की

समाप्ति (मृत्यु) का भी हमें कुछ शोक नहीं होता। न्यू-यार्क, लण्डन, पैरिस आदि नगरों में प्रतिदिन सैकड़ों मनुष्य मरा करते हैं; क्यों हम उनका मातम नहीं करते? केवल इसीलिए कि उनसे हमारे स्वार्थ का कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता। परन्तु न्यूयार्क आदि नगरों में सैकड़ों मनुष्य होंगे, जो उनके मरने का शोक करते होंगे। क्यों शोक करते हैं? इसलिए कि उनका स्वार्थ उन मरने वालों के साथ जुड़ा हुआ होता है। निष्कर्ष यह है कि मृत्यु-शोक का कारण स्वार्थ और एकमात्र स्वार्थ है—इसलिये स्वार्थ क्या है इस पर थोड़ा-सा विचार करना होगा—

स्वार्थ-मीमांसा

स्वार्थ का तात्पर्य है (स्व+अर्थ) अपनी कामना, अपनी ग़रज़—"स्व" (self) और आत्मा पर्यायवाचक हैं—दोनों का एक ही अर्थ है, इस लिए "अपना अर्थ" या "अपनी आत्मा का अर्थ" इन में कुछ अन्तर नहीं है, यह दोनों समानार्थ पद हैं।

स्वार्थ के भेद

स्वार्थ तीन प्रकार का है—

(१) उत्कृष्ट (२) मध्यम (३) निकृष्ट। (१) उत्कृष्ट स्वार्थ वह है, जिस में आत्मा स्वच्छरूप में रह कर अपने अर्थ की ओर प्रवृत्त होता है। (२) मध्यम स्वार्थ वह है,

जिस में आत्मा मन और इन्द्रिय से युक्त होकर सम्मिलित अर्थ की सिद्धि करता है। (३) निकृष्ट स्वार्थ वह है, जिस में आत्मा मन और इन्द्रिय से युक्त होकर ममता के वशीभूत होकर सम्मिलित अर्थ की सिद्धि करता है। निकृष्ट स्वार्थ वह है, जिससे मनुष्य को मृत्यु के दुःख से दुःखी होना पड़ता है। प्रत्येक प्रकार का स्वार्थ ठीक ठीक समझा जा सके, इसलिये उसका कुछ विवरण यहाँ दिया जाता है—

इन भेदों की व्याख्या

आत्मा की दो प्रकार की वृत्ति होती है—एक का नाम है अन्तर्मुखी वृत्ति, दूसरी को वहिर्मुखी वृत्ति कहते हैं। अन्तर्मुखी वृत्ति का भाव यह है कि आत्मा केवल आत्मा+परमात्मानुभव में रत हो, इसी को निदिध्यासन (Intuition or Realization) कहते हैं। इसी का नाम 'श्रेय' या 'निवृत्तिमार्ग' है। परन्तु जब आत्मा अपने भीतर नहीं, किन्तु वाहर काम करता है, तव बहिर्मुखी वृत्ति वाला कहलाता है। उसका क्रम यह है कि आत्मा वुद्धि को प्रेरणा करता है, बुद्धि मन को, मन ज्ञानेन्द्रियों को गति देता है; इन्द्रियाँ विषय में प्रवृत्त हो जाती हैं। इसी को श्रवण और मनन कहते हैं, इसका नाम "प्रेय" या "प्रवृत्ति" मार्ग है।

"प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग"

मनुष्य के लिए इन दोनों मार्गों की उपयोगिता है। यदि यह दोनों मार्ग ठीक रीति से काम में लाये जावें तो प्रवृत्ति-मार्ग निवृत्ति का साधक होता है। उपनिषदों में जहाँ प्रवृत्ति-मार्ग की निन्दा की गई है, उसका भाव केवल यह है कि जो मनुष्य प्रवृत्ति-मार्ग को ही अपना उद्देश्य बना कर निवृत्ति-मार्ग की अवहेलना करते हैं, वे ही उपनिषदों की शिक्षानुसार तिरस्कार के योग्य होते हैं। इस बात को उपनिषदों ने असंदिग्ध शब्दों में कहा है देखो :—

न साम्प्रायः प्रतिभाति बालम्प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढ़म्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥
(कठोपनिषद् २। ६)

अर्थात् अज्ञानी पुरुषों को, जो प्रमादग्रस्त और धन के मोह से मूढ़ हो रहे हैं, परलोक की बात पसन्द नहीं आती; ऐसे पुरुष तो केवल इसी लोक को मानने वाले (प्रवृत्ति-मार्गगामी) हैं और परलोक (निवृत्ति-मार्ग) को नहीं मानते, उन्हें बार बार मृत्यु का ग्रास बनना पड़ता है। परलोक का विचार छोड़ जो केवल इसी लोक को अपना सब कुछ समझने लगते हैं, उन्हें सांसारिक मोह जकड़ लेता है, और मोहग्रस्त होकर उन्हें अपने उद्देश्य से भी पतित हो जाना पड़ता है। इस विषय में एक

बड़ी शिक्षाप्रद आख्यायिका नारद की है—

नारद की आख्यायिका

एक बार नारद ने कृष्ण महाराज की सेवा में उपस्थित होकर उन से आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहा। महाराज ने उन्हें अधिकारी नहीं समझा और इसलिए उन्हें आत्मोपदेश नहीं किया। दूसरे अवसर पर आकर नारद ने फिर वही प्रश्न किया, महाराज ने उत्तर न देकर नारद से कहा कि चलो कहीं भ्रमण कर आवें। नारद प्रसन्नता से रज़ामन्द हो गया और इस प्रकार दोनों चल दिये। कुछ दूर पहुँच कर ग्राम दिखाई दिया। कृष्ण ने नारद से कहा कि जाओ इस ग्राम से पीने को पानी ले आओ। नारद चले गये। एक कुएँ पर पहुँचे, जहाँ कुछ स्त्रियाँ पानी भर रही थीं। उन में एक अति रूपवती सुशीला कन्या भी थी। नारद ने उससे जल माँगा। उसने बड़ी प्रसन्नता से नारद को जल दिया। परन्तु नारद जल लेकर वहाँ से चले नहीं और जब वह कन्या जल लेकर अपने घर की ओर चली, तो उसके पीछे हो लिये। कन्या ने घर पहुँच कर अपने पीछे नारद को आता देख कर समझा कि यह ब्रह्मचारी भूखा प्रतीत होता है, उसने आदर से नारद को बिठला कर भोजन कराया, परन्तु नारद भोजन करके भी वहाँ से नहीं टले। इसी बीच में कन्या का पिता जो कहीं बाहर गया हुआ था, लौट कर घर आया

और उसकी नारद से भेंट हुई। जब बातें ढंग की होने लगीं, तब नारद ने सुअवसर समझ कर कन्या के पिता से कहा, कि इस कन्या का विवाह मेरे साथ कर दो। कन्या के पिता ने योग्य वर समझ कर विवाह कर दिया। उस कन्या के सिवाय घर में और कोई बालक या स्त्री नहीं थी, इसलिए कन्या के पिता ने नारद से कहा कि यहीं रहो। नारद उसी घर में प्रसन्नता से रहने लगे। कुछ काल के बाद पिता का देहान्त हो गया, अब यह युगल उस घर में मालिक के तौर पर रहने लगे। गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए नारद के होते होते तीन पुत्र हो गये। इसी बीच में वर्षा अधिक होने से बाढ़ आगई और पानी गाँव में भी आ गया और ग्राम-निवासी अपने अपने घर छोड़ कर जिधर-तिधर जाने लगे। नारद को भी कहीं चलने की चिन्ता हुई और उन्होंने अपने छोटे दो बच्चों को कन्धों पर बिठला कर बड़े पुत्र को एक हाथ से पकड़ा और दूसरे हाथ से स्त्री का हाथ पकड़ कर पार होने के समय उनका बड़ा लड़का अपने आप को सम्भाल नहीं सका, उसका हाथ नारद के हाथ से छूट गया और वह पानी में बह गया। नारद अपनी विवशता देख कर किसी प्रकार सन्तोष करके आगे चल दिये कि पानी ने फिर धकेला और नारद गिरने को हुए परन्तु किसी तरह से उन्होंने अपने को तो सम्भाला परन्तु इस

संघर्षण में उनके कन्धों से बाक़ी दो पुत्र भी पानी में गिर कर बह गये।

अब उनके साथ केवल उनकी स्त्री रह गई। नारद को उन पुत्रों के बहने का दुःख तो बहुत हुआ, परन्तु किसी प्रकार अपनी स्त्री और अपने जी को समझा कर आगे चल दिये कि स्त्री तो मौजूद ही है, और भी पुत्र हो जावेंगे। जब वे दोनों युगल इस प्रकार जा रहे थे कि अचानक पानी की प्रबल झपेट ने स्त्री को भी बहा दिया। नारद बहुत हाथ-पाँव मार कर किसी प्रकार पानी से निकल कर उसी स्थान पर पहुँचे जहाँ से कृष्ण महाराज के लिए पानी लेने ग्राम को चले थे, तब उनका माया-मोह छूटा और वह वहीं पश्चात्ताप करने लगे कि मैं ग्राम में किस काम के लिये गया था और वहाँ जाकर किस जगत्-जाल में फँस गया। परन्तु "अब पछताये क्या होत है, जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत।"

आख्यायिका कितनी अच्छी शिक्षा देती है कि मनुष्य जब उद्देश्य को भुला कर संसार के माया-मोह में फँस जाता है तब उसकी ऐसी ही दुर्दशा होती है जैसी नारद की हुई। इसीलिए उपनिषद् ने शिक्षा यह दी है कि मनुष्य को श्रेय मार्ग को भुला कर, केवल प्रवृत्ति-मार्ग को अपना उद्देश्य नहीं बना लेना चाहिये। किन्तु प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को उनका उचित स्थान देना

चाहिये। तभी मनुष्य का कल्याण हो सकता है।

मनुष्य ममता ही के वश में होकर तो इस प्रकार के कार्य करता है, जिससे उसे दुःखी होना पड़ता है। इसी ममता के वश में होने का नाम 'निकृष्ट स्वार्थ' है। यही 'निकृष्ट स्वार्थ' है, जिससे मनुष्य को धन सम्पत्ति के चले जाने या बन्धु बांधवों की मृत्यु से दुःख उठाना पड़ता है। इस के सिवा एक बात और भी है यदि कुछेक लोगों के कथनानुसार इस प्रकार दुःखित और क्लेशित होने को, गई वस्तु की पुनः प्राप्ति का यत्न माना जावे तो भी यह यत्न वृथा है। यह बात पिता-पुत्रादि के सम्बन्ध की वास्तविकता ज्ञान होने से स्पष्ट होगी।

पिता, पुत्र, बन्धु-बांधवों के सम्बन्ध का वास्तविक रूप क्या है—यह बात जानने के लिये सम्बन्ध की सत्ता पर विचार करना चाहिए। क्या पिता-पुत्र का सम्बन्ध दोनों की आत्माओं में है? उत्तर यह, कि नहीं, क्योंकि पिता पुत्र के सम्बन्ध के लिए आयु का भेद अनिवार्य है। परन्तु आत्मायें सब एक सदृश नित्य हैं। उनका न आदि है और न अन्त। इसलिए यह सम्बन्ध आत्माओं में, आयु का भेद न होने से नहीं हो सकता। फिर क्या सम्बन्ध, शरीर और शरीरों में है? नहीं, यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि मरने के बाद भी शरीर बाकी रहता है, परन्तु कोई उसे पिता या पुत्र

समझ कर घर में नहीं रखता। किन्तु शरीर से आत्मा के निकलते ही जब कि उसकी संज्ञा शरीर से "शव" हो जाती है, यथासंभव शीघ्र दाह करने की प्रत्येक चेष्टा किया करता है। यदि शरीर ही पिता या पुत्र हो, तो उसके दाह करने से पिता या पुत्र के घात का पाप दाह करने वालों को होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता, किन्तु शव का दाह कर्तव्य और पुण्य बतलाया गया है। अतः यह स्पष्ट है कि पिता-पुत्रादि का सम्बन्ध न तो केवल आत्मा में है और न केवल शरीर में। फिर यह सम्बन्ध किस में है? इसका उत्तर यह है कि सम्बन्ध शरीर और आत्मा के संयोग होने पर स्थापित होता और वियोग होने पर टूट जाता है। आत्मा और शरीर के संयोग का नाम ही पिता-पुत्रादि हुआ करता है। एक गृहस्थ के घर में पुत्र का जन्म होता है। इस जन्म होने का अर्थ क्या है? शरीर और आत्मा का संयोग, इसी संयुक्त द्रव्य का नाम ही पुत्र होता है। इस प्रकार जब शरीर और आत्मा के संयोग का नाम ही पिता-पुत्रादि हुआ करता है, तो इस सम्बन्ध के टूट जाने पर इस सम्बन्ध की समाप्ति हो जाती है यह परिणाम निकालना अनिवार्य्य है। इस प्रकार जब मृत्यु (शरीर और आत्मा का वियोग) होने पर सम्बन्ध टूट जाता है और पिता-पुत्रादि की कोई

सत्ता बाक़ी नहीं रहती, तो फिर दुःखित और क्लेशित होने का यत्न किसकी पुनः प्राप्ति के लिये किया जा सकता है ?

एक फ़ारसी के कवि "उर्फ़ी" ने बहुत अच्छी तरह से इसी सिद्धान्त के प्रदर्शित करने का यत्न किया है। उसने लिखा है, यदि रोने से प्रियतम मिल जाता है, तो सौ वर्ष तक इसी आशा में रोया जा सकता है। निष्कर्ष यह है कि मरने पर मरने वाले के लिये रोना, पीटना, दुःखित और क्लेशित होना व्यर्थ और सर्वथा अनावश्यक है, बल्कि इसके विपरीत अवशिष्ट परिवार को यह सोचते हुये कि वह वस्तु ईश्वर की थी उसने उसे जब चाहा ले लिया और उसके इस प्रकार उस वस्तु को ले लेने से हम पर जो उससे सम्बन्धित, उत्तरदायित्व रूप बोझ था, कम हो गया और परिणाम में हमें आंशिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। इस स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए हर्ष करना चाहिए न कि मातम।

पहली बात—सब से प्रथम जिस शिक्षा को देना है, वह ब्रह्मचर्य की शिक्षा है। ब्रह्मचर्य का यह भाव है कि मनुष्य में आस्तिक बुद्धि के साथ वह योग्यता उत्पन्न हो जिससे मनुष्य अपने मन और इन्द्रियों पर अधिकार रख सके। मन बड़ा चंचल है। यही मन की चंचलता जब इन्द्रियों में भी आ जाती है, तब मनुष्य का पतन हो जाता है।

इसलिये मनुष्य के सब से बड़े यही दो कर्त्तव्य हैं—(१) ईश्वर-परायणता (२) अपने ऊपर अधिकार—इन्हीं कर्त्तव्य-द्वय का नाम ब्रह्मचर्य्य है। सुतराम् ब्रह्मचर्य्य प्रत्येक नर-नारी के लिये अनिवार्य्य है। जितने भी इन्द्रियों के विषय हैं, क्षणिक सुख के देने वाले हैं। और उस क्षणिक सुख के बीतने के साथ ही प्राणियों में उस विषय की असारता जान कर, उससे वैराग्य उत्पन्न होता है। परन्तु यह वैराग्य भी विषयों के सुख की भाँति ही क्षणिक होता है। उस वैराग्य के बीतने पर फिर मनुष्य उन्हीं विषयों की ओर चलने लगता है। बस, इसी चलेन्द्रियता के दोष को दूर करने का साधन ब्रह्मचर्य है।

विषय की निस्सारता का अभिप्राय

कोई विषय हो उसका सुख बहुत थोड़ी देर, उसके

भोगने के समयमात्र में, रहता है। इधर भोग खतम हुआ, उधर सुख रुखसत। उदाहरण के लिये रसना के विषय को लीजिये। मनुष्य को किसी वस्तु विशेष का स्वाद अत्यन्त प्रिय है, वह उसी स्वाद के लिये उसे खाता है। जिह्वा पर उस वस्तु के रखते ही स्वाद आ जाता है। परन्तु वह स्वादप्रिय प्राणी चाहता है कि उस वस्तु को खाये नहीं, किन्तु जिह्वा पर ही रक्खा रहने दिया जाय, जिससे देर तक स्वाद आता रहे, परन्तु अब उसे ऐसा करने से स्वाद नहीं आता। उस वस्तु के जिह्वा पर रखते ही खूब स्वाद आ गया था, परन्तु मालूम नहीं, वह स्वाद कहाँ चला गया। वस्तु जिह्वा पर रक्खी हुई है, परन्तु स्वाद नहीं आता। अब स्वाद क्यों नहीं आता? इसलिये कि वह तो क्षणिक था। स्वाद का क्षण बीतते ही स्वाद खत्म हो गया। यही हाल संसार के प्रत्येक विषय का है। इसलिये इन विषयों को क्षणिक और निस्सार कहा जाता है। ब्रह्मचर्य्य के नियमों पर अमल करने की योग्यता उत्पन्न करने के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य उठते-बैठते, सोते-जागते इन सब नियमों को स्मरण करता रहे, और भरसक यत्न करे कि उन्हें काम में लावे। उनके काम में लाने के लिये दो साधन हैं।

ब्रह्मचर्य के दो साधन

पहला साधन तप है। मनुष्यों को कठोरता सहने का जीवन व्यतीत करना चाहिये, कष्टों को प्रसन्नता से सहन करना चाहिये; आराम-तलबी के पास भी नहीं फटकना चाहिये। दूसरा साधन स्वाध्याय है। उत्तम उत्तम ग्रन्थों के अध्ययन से मनुष्य का हृदय और मस्तिष्क ब्रह्मचर्य्य के पवित्र नियमों के ग्रहण करने के योग्य बना करता है।

दूसरी बात—चित्त की एकाग्रता है—सुख असल में विषयों में नहीं, किन्तु चित्त की एकाग्रता में है। इसलिये चित्त एकाग्र होना चाहिये। चित्त की एकाग्रता प्राप्त करने के लिये इस बात की आदत डालनी चाहिये कि जो काम भी करे, खूब जी लगा कर किया करे और अपने को कभी ख़ाली न रक्खे। कुछ न कुछ सदैव करते रहना चाहिये चित्त की एकाग्रता के लिये ईश्वर के मुख्य नाम ओ३म् का सार्थक जप इस प्रकार करना चाहिये कि कोई श्वास जप से ख़ाली न जाने पावे—यह जप प्रातः-सायं अथवा रात्रि आदि में अपनी अपनी सुविधा के अनुसार करना चाहिए। इन साधनों से चित्त एकाग्र हो जाता है। चित्त की एकाग्रता मानो मोहन मन्त्र है। जिससे प्रत्येक कार्य्य की सिद्धि हो सकती है।

तीसरी बात—'ममता का त्याग' है—ममता दुःखों

की जननी है। ममता को छोड़ देने से मनुष्य दुःखों की सीमा उल्लंघन कर जाता है। मौत उसके लिये कष्टप्रद नहीं रहती है। ममता का साधन वैराग्य हैं। प्रबल वैराग्य से ममता नष्ट हो जाती है, इसलिये यत्न करके वैराग्य से ममता के परदे को चित्त से हटा देना चाहिये। काम ज़रूर मुश्किल है, परन्तु असम्भव नहीं। यत्न करने से सब कुछ हो जाता है।

चौथी बात—चौथी बात जो आचरण में लानी चाहिए वह आत्म-अध्ययन है। आत्म-अध्ययन का भाव यह है कि मनुष्य शान्ति के साथ समय पर अपने गुण और दोषों पर विचार किया करे और दोषों के छोड़ने के लिये यत्नवान् रहा करे। जब तक मनुष्य अपने ऊपर दृष्टि नहीं रखता, तब तक उसे अपने दोषों, अपनी त्रुटियों का पता नहीं चला करता। इसलिए दिन-रात में एक ख़ास समय में और सब से अच्छा रात्रि में सोने से पहले का समय इस काम के लिए हुआ करता है। उसी समय ईश्वर को अपने हृदय में विराजमान समझ कर अपने दिन भर के कामों पर विचार किया करे, जो जो उनमें त्रुटियाँ हुई हों, उनके लिए प्रतिज्ञा कर लिया करे कि कल से ये न होंगी और फिर पूरा २ यत्न किया करे, कि वे दोष उसमें न रहें—इसी का नाम आत्म अध्ययन है।

पांचवीं बात—पहली चार शिक्षायें, वे कर्त्तव्य हैं, जिनका सम्बन्ध केवल उन्हीं मनुष्यों से हुआ करता है, जो उन्हें प्रयोग में लाया करते हैं, अब दो शिक्षायें वे हैं, जिनका संबन्ध अन्यों से है। उनमें से पहली अर्थात् पाँचवीं शिक्षा "विश्वप्रेम" है। मनुष्य का हृदय लचकीला होना चाहिए, जिससे उसमें प्राणि-मात्र की हित-कामना निहित रहा करे। ईश्वर जगत् का पिता है। मनुष्य, पशु, पक्षी सभी, उसके उत्पन्न किये हुए, उसके पुत्र और पुत्रियों के सदृश हैं। इसलिये जहाँ मनुष्यों के अन्तर्गत भ्रातृ-भाव होना चाहिए, वहाँ पशु-पक्षियों के लिये भी उनके हृदय में दया का भाव रहना चाहिए। इस प्रेम की मंगल कामना से, जब मनुष्य का हृदय पूरित रहा करता है, तब उसके भीतर एक अपूर्व उत्साह और आह्लाद की आभा जाज्वल्यमान रहने लगती है जो उसके प्रत्येक कार्य्य की सिद्धि का अचूक कारण बना करती है। और मनुष्य इसी प्रकार से अनेक दोषों तथा अनाचारों से बचा करता है। जहाँ प्रेम से हृदय शुद्ध और उदारतापूर्ण हुआ करता है, वहाँ ईर्ष्या द्वेष से वह मलिनता और संकीर्णता का निवास-गृह बना करता है। यही कर्त्तव्य है, जिसके प्रयोग में लाने से मनुष्य परस्पर प्रेम के सूत्र से सूत्रित होकर जाति और समाज बनाया करते हैं, जो अभ्युदय

(लोकोन्नति) का एकमात्र कारण है। परस्पर मनुष्यों में इस प्रेम की लता अधिकतर उसी समय अंकुरित हुआ करती हैं, जब उनके हृदय प्रभु-प्रेम से भी पूरित हुआ करते हैं। इस लिए मनुष्य-प्रेम और ईश्वर-प्रेम दोनों साथ २ ही चला करते हैं।

छठी बात—छठा कर्त्तव्य सेवा का सच्चा भाव है। यह वह श्रेष्ठ कर्त्तव्य है, जिससे मनुष्य सहृदय और लोक-प्रिय बना करता है, उसके आत्मा में विशालता आती है। इसी उच्च कर्त्तव्य के प्रयोग में लाने से मनुष्य पतितों का पावन बनता, गिरे हुओं को उठाता और अनेकों दोषों से युक्त प्राणियों को दोषमुक्त करता है। एक उदाहरण दिया जाता है और यह उदाहरण वैष्णव सम्प्रदाय के एक आचार्य्य "चैतन्य" के जीवन से सम्बन्धित है :—

एक उदाहरण

एक बार महात्मा चैतन्य बंगाल के एक नगर में आये और एक वाटिका में ठहरे। उनके साथ उनके कतिपय शिष्य भी थे। नगर के लोगों ने बात में प्रकट किया कि उस नगर में एक व्यक्ति मद्यायी बड़ा दुष्ट है, उससे बहुधा नगर-निवासी दुःखी रहा करते हैं। चैतन्य ने यह सुन कर अपने एक शिष्य को भेजा कि मद्यायी को बुला कर लावे—मद्यायी उस समय अपने एक

दो मित्रों के साथ शराब पी रहा था। उसी समय चैतन्य के शिष्य ने उसे गुरु का सन्देश सुनाया और साथ चलने की प्रार्थना की। मद्यायी ने एक ख़ाली बोतल सन्देशहारे को मारी, जिस से उसका सिर ज़ख़्मी हो गया और ख़ून निकलने लगा। उसी हालत में शिष्य ने लौट कर घटित घटना गुरु को सुना दी। चैतन्य ने तब अपने १०—१२ शिष्यों को भेजा कि यदि वह प्रसन्नता से न आवे, तो उसे पकड़ लावें। मद्यायी अब उनके साथ चैतन्य के पास जा रहा है। वह सोचता जाता था कि उस से अपराध हुआ है और उसे कठोर दण्ड भोगना पड़ेगा, इसी चिन्ता से चिन्तित और दुःखी मद्यायी चैतन्य की सेवा में उपस्थित किया जाता है। चैतन्य ने उसे आराम के साथ एक गुदगुदे बिस्तरे पर लिटा दिया, परन्तु इस से उसका भय और बेचैनी दूर नहीं हुई, इसी बीच में चैतन्य उसके पाँवों के पास आकर बैठते हैं और उसके पाँव दबाना चाहते हैं। पाँव के छूते ही मद्यायी घबरा कर उठ बैठता है और बड़ी नम्रता से उसने अपने पातकों और अवगुणों की गिनती करते हुये कहा कि महाराज! आप ने मेरे अपवित्र शरीर को हाथ लगाकर क्यों उन्हें अपवित्र किया, उसकी आँखों से अश्रु-धारा बही चली जा रही है और वह अपने दोषों की गणना चैतन्य को कराता चला

जा रहा है । फल यह होता है, कि मद्यायी की काया पलट जाती है और वह चैतन्य का शिष्य बन जाता है और उनके शिष्यों में सब से ऊँचा स्थान पाता है। इस आख्यायिका से स्पष्ट है कि किस प्रकार चैतन्य ने सेवा के द्वारा एक गिरे हुये पुरुष को उठा कर उसे अच्छे से अच्छा आदमी बना दिया।

सातवीं बात—सातवां और अन्तिम कर्त्तव्य विशेष-कर चतुर्थाश्रमस्थ मनुष्यों का यह है कि वे अपने को ईश्वरभक्ति, ईश्वरप्रेम से इस प्रकार रंग लें कि उसके सिवा संसार की प्रत्येक वस्तु उन्हें गौण प्रतीत होने लगे। इसके लिये उन्हें निरन्तर उठते-बैठते, सोते-जागते ईश्वर का स्मरण करते रहना चाहिए। यदि वे सोने से पहले जी लगाकर ईश्वर-स्मरण करते हुए सो जावेंगे तो निश्चित है कि उन्हें यदि स्वप्न भी दिखलाई देगा, तो उसमें वे अपने ईश्वर का साक्षात्कार करते हुए ही देखेंगे। प्रत्येक प्रकार के झगड़ों, झंझटों और अशान्ति-प्रद कार्यों से चित्त हटाकर इस ही एक काम में लग जाने से इष्ट की सिद्धि होती है और इस इष्ट-सिद्धि के बाद व्यास के शब्दों में मनुष्य को ईश्वरीय अनुभव होने लगता है।

———

अभ्यास की महिमा

योगदर्शन के आचार्य महामुनि पतञ्जलि ने चित्त-वृत्तियों के निरोध को योग बतलाते हुए उसकी सिद्धि के केवल दो साधन—अभ्यास और वैराग्य, बतलाये हैं। उनमें से अभ्यास वह महत्वपूर्ण वस्तु है कि उससे संसार की हर पहेली हल की जा सकती है जो कार्य और किसी तरह से नहीं हो सकते, वे भी अभ्यास से हो जाया करते हैं। देखो वह सामने एक पत्थर पड़ा है। इसका वजन १० मन से कम न होगा। इन्द्र इशारा पाकर पत्थर के पास पहुँच गया और यह जानने के लिये कि क्या वह उसे उठा सकता है, उसे हिलाने जुलाने की चेष्टा करता है; परन्तु पत्थर टस से मस नहीं होता। अब किस प्रकार इन्द्र इस पत्थर को उठा सकता है ? उसे पहले मन, फिर दो मन, तीन मन इत्यादि वज़न के पत्थरों के उठाने का अभ्यास करना चाहिए। अभ्यास करते करते एक दिन वह इस वजनी पत्थर के उठाने में सफलता प्राप्त कर लेगा। इन्द्र ने इसी तरह अभ्यास शुरू किया। यह लो ! अभी अभ्यास को तीन मास भी नहीं बीतने पाये थे कि इन्द्र उस पत्थर के उठा लेने में सफलता प्राप्त कर लेता है। कृष्ण चाहता है कि वह संस्कृत का व्याख्याता बन जावे और धारा-प्रवाह संस्कृत

भाषण करने लगे, परन्तु उसे अभी तो सभा में ठीक रीति से खड़े होकर चार शब्द बोलने की भी योग्यता नहीं है। कुछ परवाह नहीं, उसे व्याख्यान देने के लिये खड़ा होना चाहिये। वह खड़ा हो गया, वह खड़ा तो हो गया—परन्तु देखो उसके पाँव एक ओर काँप रहे हैं, ज़बान दूसरी ओर लड़खड़ा रही है, कोई भी शब्द जबान से पूरा नहीं निकलता, वह घबड़ा कर बैठ गया। दूसरे दिन वह फिर खड़ा होता है। आज कल से उसका कुछ अच्छा हाल है, एक दो शब्द भी उसने साफ बोल दिए हैं। इसी प्रकार एक सप्ताह बराबर प्रतिदिन खड़े होने से उसे ढंग से खड़े होना और ढंग से कुछ बोलना भी आ गया। अब इस अभ्यास में सफलता देख कर कृष्ण की रुचि अभ्यास करने में बढ़ गई और वह दिन में दो बार खड़े होकर कुछ कहने लगा। अभ्यास को इसी प्रकार नित्यप्रति जारी रखते हुए ६ मास भी नहीं बीतने पाये थे कि आर्यकुमार-सभा के एक अधिवेशन में हम कृष्ण को अच्छा व्याख्यान देते हुए देखते हैं।

(३) आकृति-विद्या के पण्डित मनुष्य के हृदय का भेद उसकी आकृति देख कर जान लिया करते हैं। राम को बड़ी उत्सुकता है, कि वह भी इस विद्या का जानकार बन जावे, इसी उद्देश्य से राम आकृति-विद्या के एक पण्डित

'वरुण' के पास जाता है और इच्छित विद्या की प्राप्ति की दीक्षा लेता है। वरुण ने बतलाया, कि मनुष्य के मस्तिष्क से, जो उसके भावों और विचारों का केन्द्र होता है, रंगीन किरणें निकला करती हैं, जिन्हें अभ्यास से शक्ति विकसित करके मनुष्य जान लिया करता है कुछ एक किरणों का विवरण इस प्रकार है:—

(क) जो मनुष्य अत्यन्त आवेश वाले (Passionat) होते हैं उनके मस्तिष्क से, गहरे लाल रंग की किरणें निकला करती हैं।

(ख) परोपकारी निष्काम सेवा करने वाले महानुभावों के मस्तिष्क से निकलने वाली किरणों का रंग गुलाबी होता है।

(ग) यश की कामना वाले पुरुषों की किरणें नारंगी रंग की होती हैं।

(घ) फिलास्फरों (दार्शनिकों) और विचारकों की किरणें गहरी नीली रंगत वाली हुआ करती हैं।

(च) कला-प्रेमियों की किरणें पीली होती हैं।

(छ) उद्विग्न और उदास पुरुषों की किरणें धवल (Grey) रंग की होती हैं।

(ज) नीच प्रकृति वालों की किरणें मैले बादामी रंग की होती हैं।

(झ) भक्ति और सदुद्देश्य वालों की हल्की पीली।

(त) उन्नतिशील पुरुषों की हल्की हरी—और

(थ) शारीरिक और मानसिक रोगियों की हरी होती हैं, इत्यादि।

वरुण ने बतलाया, कि किस प्रकार राम को शक्ति विकसित करने और इन किरणों के देखने का अभ्यास करना चाहिए। राम उसी के अनुसार अभ्यास करके अपने को आकृति-विद्या का पण्डित बना लेता है, और अब वह इस योग्य हो गया, कि किसी के भी हृदय का हाल जान सकता है।

तीनों उदाहरण स्पष्टता से साक्षी देते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति ने उपर्युक्त तीनों प्रकार की योग्यता अभ्यास और केवल अभ्यास ही से प्राप्त की है। आदत (स्वभाव) जो इतनी प्रभाव-शाली वस्तु है कि उसे द्वितीय प्रकृति (Second Nature) कहते हैं, वह भी अभ्यास ही से बना करती है। मनुष्य के लिये उत्कृष्टता प्राप्त करने का साधन अभ्यास है, इसलिए अभ्यास की महिमा समझते हुए, उससे काम निकालने का यत्न प्रत्येक उन्नति के इच्छुक नर-नारी को करना चाहिये।

———

सफलता की कुंजी

संसार में सफलता की कुंजी दृढ़ता में है। एक काम शुरू करो, अच्छी तरह से सोच समझ कर शुरू करो, आगा-पीछा विचार कर शुरू करो, परन्तु जब शुरू कर लो फिर समाप्त किये बिना उसका पीछा न छोड़ो। इसी का नाम दृढ़ता है। धर्म के दस लक्षणों में प्रथम लक्षण धृति में यही भाव निहित है। सब से पहला स्थान इसको दिया भी इसी लिए गया है कि इसके बिना अन्य किसी लक्षण की सफलता सम्भव नहीं। किसी कार्य के करने के निश्चय का नाम वेदों की भाषा में वृत्ति है। ईश्वर को व्रतपति के नाम से पुकार कर व्रतों की पूर्ति करने का बल प्राप्त हो, इसके लिए स्थल-स्थल पर प्रार्थना करने का विधान वेदों में किया गया है। यथा 'अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि' इत्यादि व्रत ग्रहण करके फिर उसकी पूर्ति होने या पूर्ति के यत्न में मनुष्य अपने को समाप्त कर देवे। इसके सिवा बीच की और कोई बात नहीं हो सकती। इसी सतत-प्रयत्न का नाम दृढ़ता है। संसार का छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा कार्य इसके बिना पूरा नहीं हो सकता। यदि मर्यादा-पुरुषोत्तम राम अपने यत्न को निरन्तर जारी न रखते तो क्या सम्भव था कि रावण जैसे शक्तिशाली सम्राट् को परा-

जित कर सकते ? यदि कृष्ण इसी प्रकार का यत्न न करते तो क्या सम्भव था कि जरासन्ध जैसे महारथी को, जिसके कारण मथुरा छोड़ कर उन्हें द्वारिका जाना पड़ा था, वध करा सकते।

अर्वाचीन काल की ओर दृष्टि डालें तो अमेरिका की सफलता का एक कारण---और मुख्य कारण---वहाँ के विचारक यह बतलाते हैं कि अमेरिका के लोग असफलता से निराश नहीं होते, किन्तु द्विगुण उत्साह से उस काम को पूरा करना चाहते हैं। और जब तक सफलता प्राप्त नहीं कर लेते उसका पीछा नहीं छोड़ते। हिमालय की सब से ऊँची चोटी एवरेस्ट है। संसार में इससे ऊँचा किसी पर्वत का शिखर नहीं। अभी तक उस शिखर पर कोई नहीं पहुँच सका।

वर्षों से पश्चिमी विद्वान् यत्न कर रहे हैं कि शिखर पर पहुँच सकें परन्तु नहीं पहुँच सके। लेकिन क्या वे निराश हो गए ? कदापि नहीं। प्रति वर्ष एक-दो विद्वान् इस यत्न की भेंट होते हैं। लाखों रुपया यत्न की पूर्ति में व्यय होता है। परन्तु फिर भी निराशा पास नहीं फटकती ! इटली आदि के विद्वान् अभी एवरेस्ट पर पहुँचने के लिए असाधारण तय्यारी कर रहे हैं। इसी प्रकार प्रति वर्ष ध्रुवों की यात्रा की जाती है। सफलता न होने पर भी यत्न बराबर जारी है और अवश्य एक न एक

मातृ-शक्ति

मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद ।

प्राचीन शिक्षा-पद्धति का मूल-मन्त्र ब्राह्मण-ग्रन्थ के इस वाक्य में निहित है कि कि "मातृमान्,पितृमान्, आचार्य-वान् पुरुषो वेद"—अर्थात् बालक, बालिकायें अपनी शिक्षायें सब से प्रथम माता, उसके बाद पिता और तीसरे दर्जे पर गुरु से ग्रहण किया करती हैं। मनोविज्ञान के उच्च सिद्धान्त प्रकट करते हैं कि छोटे बालकों का मन अर्थात् वह मस्तिष्क (Objective Mind) जो इच्छा-शक्ति का केन्द्र होता है, और जिससे मनुष्य इरादा करके काम किया करता है, चित्त (Subjective Mind) अर्थात् उस मस्तिष्क की अपेक्षा जिस पर अनिच्छित प्रभाव अङ्कित हुआ करते हैं, बहुत कम विकसित हुआ करता है—इसीलिए माता के शिक्षा-काल में माता की शिक्षायें बालक के मन पर कम परन्तु चित्त पर अधिक प्रभाव डाला करती हैं। मन पर जो प्रभाव पड़ा करता है वह तो मन के संकल्प-विकल्पों के संघर्षण में आकर नष्ट-सा भी हो जाया करता है, परन्तु चित्त पर पड़ा प्रभाव हृदयाङ्कित होकर एक प्रकार से अमिट-सा हो जाया करता है। मानव-शरीर की उन सब माँस-पेशियों का सम्बंध, जिनके द्वारा मनुष्य कुछ किया करता है, चित्त

(दूसरा मस्तिष्क) से होता है। इसलिए चित्त पर पड़ा प्रभाव बिना रोक-टोक के काम में आने लगता है। पिता का शिक्षा-काल वह होता है जिस में मन (पहिला और मुख्य मस्तिष्क) का विकास शुरू हो जाता है। परन्तु वह इतना अधिक विकसित नहीं हो जाता कि जिससे चित्त के काम से उस का प्राबल्य हो सके। अस्तु, पिता की शिक्षा कुछ चित्त पर और कुछ मन पर अपना प्रभाव उत्पन्न किया करती है। मन पर पड़ा शिक्षा का प्रभाव अस्थिर हुआ करता है परन्तु चित्त पर पड़ा शिक्षा का प्रभाव स्थिर और अमिट हो जाता है।

गुरु की शिक्षा का समय वह होता है कि जिस में मन अच्छी प्रकार से काम करता है। इस लिए गुरु की प्रायः समस्त शिक्षा का प्रभाव मन पर ही पड़ने से वह सब अस्थिर होता है। इसलिये गुरुओं में माता का दर्जा सब से ऊँचा माना गया है। संसार का इतिहास साक्षी देता है कि संसार के प्रायः सभी उच्च श्रेणी के व्यक्ति माता की शिक्षा के प्रभाव से प्रभावित थे। कुछेक का यहाँ उल्लेख किया जाता है—

(१) मदालसा का जीवन-चरित्र पढ़ने वाले जानते हैं कि किस प्रकार उसने अपने पहले तीन पुत्रों को तपस्वी बना दिया, जब कि उनके पिता की इच्छा यह थी

कि वे राज्य के उत्तराधिकारी बनें। परन्तु जब उसने अपने पति की इच्छानुसार चौथे पुत्र ऋतध्वज को राज्य का उत्तराधिकारी बनाना चाहा, तब अपने भाइयों के आग्रह करने पर भी वह तपस्वी बन कर वन को नहीं गया, अपितु राज्य में आकर राज्य का उत्तराधिकारी बना।

(२) नैपोलियन बोनापार्ट ने एक बार, जब वह 'लेडी कैम्पन' के साथ शिक्षा-सम्बन्धी विचार कर रहा था, कहा था कि अच्छी शिक्षा प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि मातायें अच्छी सुशिक्षिता हों। उसने यह भी कहा कि दृढ़ता, वीरता, नियम-बद्धता और न्याय-परायणता का क्रियात्मक पाठ उसने अपनी माता से ग्रहण किया था।

(३) नेलसन, इंग्लैण्ड के बड़े नाविक ने भी देश-हित, उदारता, उत्साह और निपुणता, अपनी माता से सीखी थी।

(४) आलीवर क्रामवेल, इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी को भी शुद्धहृदय, दृढ़ और पुरुषार्थी उसकी माता ही ने बनाया था। क्रामवेल के जीवन-चरित्र का लेखक 'फ़ोरेस्टर' उसकी माता के पुरुषार्थ का वर्णन करते हुए कहता है कि उसने अपने हाथ की कमाई से अपनी पाँच पुत्रियों को विवाह के अवसर पर बहुमूल्य दहेज दिये और प्रतिष्ठित परिवारों में उनके विवाह किए थे और उसी ने अपने पुत्र (क्रामवेल) को भी अपने ही

साँचे में ढाला था।

(५) डाक्टर स्काट ने, जिसने अपने नाविलों से आंगल-भाषा की काया पलट दी थी, एक बार अपने परिचित 'जार्ज इलियट' को लिखा था कि मेरे बाप और दादा पशुओं को चराया करते थे। परदादा बागी और राजा का बेवफ़ा सरदार था। इस प्रकार मेरे परिवार में कोई भी उच्च-कोटि का शिक्षित न था। परन्तु मेरी माता, प्रोफ़ेसर 'रुदर फोर्ड' (एडन्बरा) की बेटी थी और बड़ी विदुषी और चतुर थी। वह बचपन से ही मेरे भीतर उन विचारों को डालती रही जिनसे मेरा पिता सर्वथा अनभिज्ञ था।

(६) जर्मन के प्रसिद्ध दार्शनिक 'कांट' के लिए भी यही बतलाया जाता है कि उसके उच्च-कोटि के सदाचारी बनने का श्रेय उसकी माता को ही प्राप्त था।

ये और इस प्रकार की अनेक घटनायें प्रकट करती हैं, कि बालक और बालिकाओं की अच्छी और उत्तम शिक्षा के लिए माता का सुशिक्षित होना अनिवार्य है।

गृहस्थ परिवार का आदर्श

घरेलू राज्य

वेद ने गृहस्थ के प्रत्येक परिवार को राज्य-रूप से समझा है और इस राज्य की महारानी गृह-पत्नी को बतलाया है। वेद प्रजातन्त्री राज्य-विधायक है। इसलिए राजत्व-काल की उन्होंने सीमा बाँध दी है। मौरूसी राजत्व का अधिकार किसी को नहीं दिया है। वह सीमा क्या है ? प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है कि राजत्व-काल की सीमा गृहस्थाश्रम की अवधि है। आश्रम-व्यवस्था-नुसार मनुष्य की आयु १०० वर्ष की होने पर उसके चार विभाग होते हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। और प्रत्येक आश्रम की अवधि साधारणतया २५ वर्ष की नियत की है। २४ वर्ष तक ब्रह्मचर्यपूर्वक शिक्षा प्राप्त करके पुरुष को २५ वें वर्ष में गृहस्थाश्रम में दाखिल होना चाहिए; और ५० वें वर्ष तक गृहस्थी रहना चाहिए। यह अनुभूत विषय है कि ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करने के बाद कोई पुरुष जब गृहस्थी बनता है तो उसके गृहस्थ के पहले ही वर्ष में सन्तान हो जाती है। इस प्रकार २५ वें वर्ष किसी के प्रथम पुत्र के उत्पन्न हो जाने पर उसे २४ वर्ष और गृहस्थाश्रम में रहना चाहिए। अर्थात् ४९ वें वर्ष में

जाकर उनका ज्येष्ठ पुत्र २४ वर्ष के ब्रह्मचर्य का पालन करके गृहस्थाश्रम में आ जायगा और उस ज्येष्ठ पुत्र के २५ वें वर्ष में गृहस्थ की ऊपर बतलाई हुई मर्यादा के अनुसार पुत्र उत्पन्न हो जायेगा। बस, ज्येष्ठ पुत्र के एक पुत्र हो जाने पर ५० वें वर्ष में उस गृहस्थ पति और पत्नी को गृहस्थाश्रम छोड़ देना चाहिए और आगे के आश्रमों में चले जाना चाहिए। इसलिए वेद ने कहा है कि—

ओं सम्राज्ञी श्वसुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवरेषु॥

मन्त्र में जो शिक्षा दी गई है उससे स्पष्ट यह बात निकल आती है कि जिस समय ज्येष्ठ पुत्र का विवाह हो जावे और पुत्र-वधू घर में आ जावे तो गृहस्थी-रूपी राज्य की महारानी को अपने राज्य-कार्य का चार्ज नवागता को दे देना चाहिए। इसीलिए इस मन्त्र में वधु को सम्बोधन करके कहा गया है कि, "हे वधु! तू ससुर, सास, नन्द और देवर की सम्राज्ञी (महारानी) हो।" गृहस्थाश्रम के अन्तिम वर्ष में वधु के आ जाने पर सास ससुर आदि सभी परिवार को वधु के शासनाधीन रहना चाहिए, यह भी मन्त्र से स्पष्ट है। इसका कारण यह है कि ससुर और सास अपने पुत्र और वधु को गृहस्थ का कार्य चलाने में सहायता देवें और अपने अनु-

भव का ज्ञान उन्हें करा देवें क्योंकि उन दोनों के लिए यह काम बिल्कुल नया होगा। वेद ने जहाँ सास ससुर आदि को ज्येष्ठ पुत्र और उसकी वधु के शासन में रहने का विधान किया है वहाँ वधु को भी आदेश दिया है कि—

स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्येगृहेभ्यः।
स्योना स्यै सर्वस्य विशे स्योना पुष्टायैषः भव ॥

अर्थात् हे वधु ! तू श्वसुर, पति के गृह वालों और समस्त प्रजा के लिए सुख-दात्री हो और इनकी सेवा तथा पोषण में भी तुझे सुखी होना चाहिए। अर्थात् पति और पत्नी का कर्त्तव्य, इस मन्त्र के द्वारा यह ठहराया गया है कि वे सास ससुर आदि सबकी—प्रसन्न होकर, बोझ समझ कर नहीं—सेवा सुश्रूषा और भरण-पोषण करें। कितनी उत्तम शिक्षा है ! इसी शिक्षा के अनुकूल अनेक सूर्यवंशी राजे रघु तथा विक्रम भर्तृहरि आदि, राज्य छोड़ कर वानप्रस्थी हो गये थे। आज जो गृहस्थ में कलह है, उसका कारण शिक्षा का क्रियात्मक अभाव है। पिता और माता मरने से पहले गृहस्थ छोड़ना नहीं चाहते। अपमानित होकर रहते हैं, चारपाई पर पड़े खों खों करते हुए घर की चौकीदारी करते हैं, बच्चों को खिलाते हैं, परन्तु घर नहीं छोड़ते।

हर्ष की मात्रा बढ़ाओ

मनुष्य का कर्त्तव्य है कि संसार के हर्ष-समुदाय में वृद्धि का कारण बने। उसका प्रत्येक कार्य इसी उद्देश्य की पूर्ति का साधक होना चाहिए। हँसमुख चेहरा प्रसन्नता की किरणों को सब ओर फैलाता है। मधुर वाणी से दुखी से भी दुखी पुरुष के हृदय की कली खिल जाती है।

प्रसन्न रहने का अभ्यास बना लो, दुःख तुम्हारे पास फटक नहीं सकेगा—निराशा तुम से कोसों दूर रहेगी। एक सार्वत्रिक और बिना लिखा हुआ नियम है कि मनुष्य दुःखों, कष्टों, और रोग की वेदनाओं और प्रत्येक प्रकार की आपत्तियों को प्रसन्नता से सहन करे। जो इन्हें प्रसन्नता के साथ सह लेते हैं वे तपस्वी, चरित्रवान् और सफल-जीवन हुआ करते हैं। परन्तु जो इन्हें वीरता के साथ नहीं सहते वे चरित्र-हीन, निर्बल, कायर और दुःख-मय जीवन वाले होते हैं। प्रथम श्रेणी के नर-नारियों के साथ जनता प्रेम-प्रदर्शन करती है और उन्हें अपनी सहानुभूति का पात्र समझती है। परन्तु द्वितीय श्रेणी के स्त्री-पुरुष, लोगों की हँसी के पात्र बना करते हैं।

उपनिषद् में भी एक जगह लिखा है कि 'एतद्वै परमं तपः यद्व्याधितस्तप्यत' अर्थात् व्याधि-ग्रस्त होकर कष्टों को सहन करना परम तप है। जो नर-नारी रोगी होकर प्रसन्न रहते हैं उनका रोग शीघ्र दूर हो जाता है।

प्रसन्नता के साथ भोजन करने से जल्द पच जाता है। अप्रसन्नता के साथ भोजन करो वह कभी नहीं पचेगा। इसीलिए यह नियम है कि भोजन करने के बाद कुछ हँसना चाहिए। इससे पाचन-क्रिया में सहायता मिलती है।

स्वस्थता की इच्छा रखने वालों के लिये आवश्यक है कि प्रातः सायं अपनी सुविधानुसार कुछ समय खेल-कूद में लगाया करें। छोटे बच्चों के साथ खेलने से मनुष्य को बहुत हँसना पड़ता है। इसीलिए अनेक गृहस्थ भोजन के पश्चात् कुछ देर बच्चों के साथ खेला करते हैं। इंग्लैण्ड का प्रसिद्ध राजनैतिक 'ग्लेडस्टन' नियम से प्रतिदिन अपने छोटे बच्चों के साथ खेला करता था। एक दिन उसे धनवानों की सभा (House of Lords) के एक सदस्य से, जिससे उसे उसी खेल के समय मिलना आवश्यक था, एक बच्चे के साथ खेलते समय मिलना पड़ा। वह घोड़ा बना हुआ था और बच्चा उस पर सवार होकर हाँक रहा था। इस प्रकार दोनों खिलखिला कर हँस रहे थे। उसी खेल में ही उसने उन लार्ड महोदय से बातचीत कर उन्हें रुख्सत कर दिया, परन्तु

ऐसी जरूरत होने पर भी उसने अपना खेलना बन्द नहीं किया। उसका एक यह भी नियम था कि जो समय जिस काम के लिये उसके समय-विभाग में होता था उस समय में वह उस काम को अवश्य करता था। अस्तु, मनुष्य के लिए सदैव प्रसन्न रहना आवश्यक है। क्यों प्रसन्न रहना चाहिए ? इसका वैज्ञानिक समाधान यह है कि प्रसन्नता से मनुष्य की इच्छा विकसित और पुष्ट होती है। इच्छा-शक्ति के विकसित और पुष्ट होने से मनुष्य सभी प्रकार की सफलता प्राप्त किया करता है। इस प्रकार प्रत्येक नर-नारी प्रसन्न रह कर संसार की हर्ष की मात्रा को बढ़ा सकते हैं—यही मनुष्य-जीवन का उद्देश्य है।

सत्य बराबर तप नहीं

पहला साधन

उपनिषद् में कहा गया है कि मनुष्य को चाहिए कि वह अपने जीवन का एक उद्देश्य निर्धारित करे। जिस मनुष्य का कोई एक लक्ष्य नहीं उसकी स्थिति बहुत शोचनीय हो जाती है। उद्देश्य-पूर्ति के कई साधन हैं, उनमें सब से प्रधान साधन तप है। हाथों को सुखा देना तप नहीं। वे तो हमें दीन-दुखियों और अनाथों की सहायता के लिये मिले हैं। तप नाम है—मनुष्य में उस शक्ति का, जिससे वह कठिन से कठिन यातना को भी वीरता से सह ले, जिससे रण-क्षेत्र में आई हुई चोटों की चिन्ता न करे। नैपोलियन भी तपस्वी था। ऐसे तपस्वियों से हमारे भारत का इतिहास भरा पड़ा है। भीष्म की भयानक प्रतिज्ञा का हाल पढ़िये। तप इसका नाम है।

किन्तु मैं वर्तमान काल के तपस्वी का चरित सुनाना चाहता हूँ। अब्राहीम लिंकन, जो अमेरिका-राज्य का प्रधान (President) था, कुली के परिवार में उत्पन्न हुआ था। जब वह दस वर्ष का हुआ, उसे स्कूल में भेजा गया। स्कूल घर से दस मील के फ़ासले पर था। प्रतिदिन उसे २० मील की यात्रा करनी पड़ती थी। जब वह उच्च श्रेणी में पढ़ने लगा तो उसे एक पुस्तक की

आवश्यकता हुई। उसे मालूम हुआ कि घर से २५ मील की दूरी पर एक दानवीर से यह किताब मिल सकेगी। वह झट वहाँ गया और किताब प्राप्त की। वह अग्नि-प्रकाश में किताबें पढ़ा करता था। शिक्षा समाप्त करने पर उसके दिल में नौकरी करने का विचार पैदा हुआ। विद्यार्थी जीवन में उसे सदा ही ख्याल आता था कि मैं क्या अमेरिका का प्रधान नहीं बन सकता। इन विचारों की बदौलत उसका भविष्य उज्ज्वल हुआ। वह अमेरिका का सभापति बन गया। मनुष्य के विचार ऊँचे होने चाहिएँ।

दूसरा साधन

दूसरा साधन है धर्म—अपने आप पर अधिकार प्राप्त करना। चाणक्य ने एक अर्थ-शास्त्र लिखा है। जब इसे योरुप वालों ने देखा तो उनके आश्चर्य की कोई सीमा न रही। चाणक्य चन्द्रगुप्त का प्रधान सचिव था उसने यूनानी राजा सिलोकस को पराजित किया था। चाणक्य के कुछ अन्तिम श्लोकों का अर्थ यह है—

धर्म सुख का मूल है। आशा से धन की प्राप्ति होती है। स्वराज्य का मूल इन्द्रियों पर अधिकार पाना है। जिस मनुष्य का अपनी इन्द्रियों पर ही अधिकार नहीं है वह दूसरों पर कैसे अधिकार कर सकता है—आदि।

तीसरा साधन

तीसरा साधन कर्म है। इसके सम्बन्ध में दो बातों

का जानना आवश्यक है। पहली—कर्म का फल अटल है; मनुष्य जैसा करता है वैसा फल पाता है। दूसरी बात है—मनुष्य जो भी कर्म करे वह स्वार्थ से रहित हो। आर्यसमाज के नवें नियम में यही बात बताई गई है—मनुष्य को केवल अपनी उन्नति से ही सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए बल्कि साथ ही दूसरों की भी उन्नति करनी चाहिए। पोप लूई बड्स ने रुपया जमा करने के उद्देश्य से, पापों से मुक्ति दिलाने के लिए कई क्षमा-पत्र बंटवाए। लोगों ने उन्हें बड़े चाव से आगे बढ़कर खरीदा। डाकुओं ने, जो रुपये इनसे प्राप्त हुए, वे लूट लिए। पादरियों ने उनसे कहा कि यह ईश्वर का रुपया है, तुम नरक में डाले जाओगे। उनमें से एक ने अपनी जेब से मुआफ़ीनामा निकाल कर आगे रख दिया और कहा, इसके बल से हमारे संचित और क्रियमाण सब पाप क्षमा कर दिये गए।

कर्म केवल दूसरों की भलाई के उद्देश्य से होना चाहिये। जब मनुष्य तप, धर्म और कर्म को काम में लाता है तभी उन्नति की ओर पग बढ़ाता है।

वेद वेदाङ्ग में इन तीन साधनों का वर्णन किया गया है। वेद सत्य से ओत-प्रोत हैं। मनुष्य में सत्य-बल होना चाहिए। वेदों और उपनिषदों में सत्य की भारी महिमा है। सत्य को प्राप्त कीजिये, इससे ईश्वर को भी प्राप्त कर सकोगे।

प्रचार की सच्ची लगन

आर्यसमाज के किसी विभाग का काम करो—शुद्धि का प्रचार करो, संगठन की आवश्यकता जताओ, चरित्र की महिमा का गान करो, वेद की शिक्षा को फैला दो, सत्यार्थप्रकाश को घर २ पहुँचा दो—इन सब कामों के लिए प्रचार की लगन की ज़रूरत है। आर्यसमाज के प्रचार-युग में यह लगन एक २ आर्यसमाजी के हृदय में दीख पड़ती थी। उस समय कोई व्यक्ति आराम नहीं लेता था जब तक कि वह दिनरात में कुछ न कुछ प्रचार न कर ले। यह अवस्था केवल पढ़े-लिखे आर्यों की ही नहीं थी बल्कि निपट निरक्षर आर्य भी अपना यह उद्देश्य समझता था।

मुझे एक निरक्षर आर्य के उद्योग का वर्णन करते खुशी होती है। यह सज्जन पहरा देने वाले एक चौकीदार थे। यह रात को पहरा देते थे। इनका रोज़ का काम था—रात को आवाज़ देकर आदमियों को जगाना। आवाज़ मीठी थी और भाव बहुत ऊँचे। "पाँच हज़ार बरस से सोने वालो! अब जागो, उठो"। जब दिन के समय लोग इसका मतलब पूछते तो उत्तर मिलता—वह सब कुछ तुम्हें 'सत्यार्थप्रकाश' पढ़ने से मालूम होगा। इस वीर ने लोगों को सत्यार्थप्रकाश की हज़ारों प्रतियाँ

मंगा कर दीं। लोग उसे पढ़ कर अपने में आर्योपयोगी भाव भरते। जब उसे मालूम होता कि यहाँ अब दस बारह आर्य बन गये हैं तो वहाँ एक उपदेशक को बुला कर प्रचार कराता। इस तरह जहाँ २ वह गया वहाँ २ ही उसने आर्यसमाज की स्थापना की। प्रचारयुग में ऐसी लगन वीर आर्यों में हुआ करती थी। इससे आर्य-समाज के प्रत्येक विभाग की उन्नति हुई। आजकल इस का अभाव खटकता है। यही कारण है कि आर्यसमाज की यथेष्ट उन्नति नहीं हो रही, शुद्धि का काम भी इतना नहीं हो रहा, जितना आजकल होना चाहिये।

इसी लगन की कमी का कारण है कि हर एक काम मुट्ठी भर उपदेशकों पर निर्भर हो रहा है। यदि वे ही शुद्धि करें तो वेद-प्रचार हो। यदि वे आज करना छोड़ दें, तो कुछ भी न हो सके। जहाँ देखो वहाँ से, शिकायत मिलती है कि यहाँ उपदेशक नहीं पहुँचते, इस लिए काम बहुत थोड़ा होता है। आर्य-सभासदों को चाहिए कि वे ज़रा सोचें कि निर्धन आर्यसमाज कैसे इतने उपदेशक रख सकता है जो हर समय जगह २ पर प्रचार कर सकें। हज़ार यत्न करने पर भी एक भी उपदेशक योरुप, अमेरिका और जापान नहीं भेजा जा सका। सार्वदेशिक सभा अभी तक मद्रास या आसाम में इतने आर्यसमाज नहीं स्थापित कर सकी कि वह

प्रतिनिधि सभा बनाने के लिए काफ़ी हों। उसकी सारी शक्ति इन्हीं सिद्धान्तों के प्रचार-कार्य में लग रही है। आर्यसमाज के लिए यह समय बड़े संकट का है। हर तरफ़ से उसका विरोध हो रहा है। इस समय यदि ज़रूरत है तो इस बात की, कि प्रत्येक आर्य सत्यार्थ-प्रकाश का अध्ययन करके स्वयं प्रचार का काम करे। जहाँ वह रहता है, वहीं उसे यह भी काम करना चाहिए। यह काम केवल पुरुषों पर ही लागू नहीं होना चाहिए, बल्कि इसे देवियों को भी खूब उत्साह से करना चाहिए। यदि ये दोनों साथ साथ इस मंगल-कार्य में लग जायें, तो आज ही आर्यसमाज का बोल बाला हो सकता है। आर्यसमाज की आवश्यकताओं को प्रत्येक मनुष्य जानता है। सारे देश में उसके सिद्धान्तों को फैला देना आर्यों का कर्त्तव्य है। आशा की जाती है कि प्रत्येक आर्य भाई अपने इस अमूल्य कर्त्तव्य को समझते हुए उसे पूरा करने का प्रयत्न करें।

———

आगे बढ़ने का साहस करो

उन्नतिशील मनुष्य अपनी उन्नतिशीलता की तह में दो गुण रक्खा करते हैं। एक मौलिकता, दूसरी निर्भीकता। इन्हीं दो गुणों की बदौलत वे कुछ इस प्रकार का परिवर्तन कर दिया करते हैं जिससे संसार में कुछ न कुछ हर्ष की मात्रा बढ़ जाया करती है। सृष्टि-नियम क्रियात्मक रूप से हमें उन्नतिशीलता का ही पथ-प्रदर्शन कराते हैं। ऋग्वेद में एक जगह आया है, "ऋध्यांते वरुण स्वामृतस्य" अर्थात् "हे वरुण! हम तेरे सृष्टि-नियम के प्रवाह को बढ़ायें।" पश्चिमी विद्वानों ने इसी वेद की शिक्षा का 'Grow or die is the nature's moto' कह कर समर्थन किया है। अर्थात् उनका कथन है कि सृष्टि-नियम का आदेश यह है कि "बढ़ो या मरो" आलस्य और निकम्मेपन का जगत् के कार्यक्रम में समावेश नहीं है। वैरन्राथफ़ील्ड, जो अमरीका के उद्धारकों में से एक था उसने अपने जीवन का आदर्श यह बना रक्खा था, "Dare to go forward" अर्थात् "आगे बढ़ने का साहस करो।" परिणाम यह हुआ कि वह बड़े से बड़ा काम करने के योग्य हो सका था।

मौलिकता का भाव यह है कि मनुष्य किन्हीं कार्यों को अपनी बुद्धि से, उनके करने के विचार का आविष्कार

करके, कार्य में परिणत करे। मौलिकता स्वाभाविक है। मनुष्य दुनियां में अन्यों के किए कर्मों को नकल करने के लिए पैदा नहीं हुआ, बल्कि इसलिए उत्पन्न हुआ है कि स्वयमेव कुछ करे। सफलता की नकल कोई व्यक्ति सफलता के साथ नहीं कर सकता। सफलता में मौलिकता है मौलिकता लाने के लिए मनुष्य में तीन गुणों के आनें की ज़रूरत हुआ करती है। उनको आत्म-विश्वासी, खोज़-प्रिय और अविष्कार-प्रिय होना चाहिए।

दूसरा गुण उसमें निर्भीकता का होना चाहिए। जिस व्यक्ति में आत्मविश्वास हुआ करता है, उसमें बड़े से बड़े काम करने का साहस आ जाया करता है, और वह अगर-मगर (किन्तु-परन्तु) के फेर से निकल जाया करता है, 'जुलियस सीजर' ने जब इंगलैंड पर आक्रमण किया तो उसके हृदय में यह विश्वास हिलोरें ले रहा था कि वह अवश्य विजय प्राप्त करेगा। उसने इंगलैंड के किनारे पर अपनी फ़ौजों को उतार कर फ़ौजों के सामने ही समस्त जहाजों में, जिनमें वे आये थे, आग लगवा दी। जहाज़ों के नष्ट हो जाने पर फ़ौज के सिपाहियों को सम्बोधित करके उसने वीरतापूर्ण शब्दों में कहा कि, "तुम यहाँ इसलिए नहीं आए कि हार कर इन जहाज़ों में सवार होकर भाग जाते, बल्कि इसलिए

आये हो कि इंगलैण्ड को विजय करके वहाँ रहो और हमको राज्य करने में सहायता दो।" परिणाम यही हुआ कि इंगलैंड विजय हो गया, और सैंकड़ों वर्षों तक रोमन लोगों का वहाँ राज्य रहा। खोज करने से सदैव नई-नई बातें जानी जाया करती है और मनुष्य नए नए आविष्कार किया करता है।

जिसमें उपर्युक्त तीन गुण आ जाते हैं फिर उनका आवश्यक परिणाम यह निकलता है कि वह मनुष्य निर्भीक हो जाता है और कभी किसी प्रकार का भी भय उसको निश्चित इरादों के पूरा करने से नहीं रोक सकता। इसके विपरीत जो पुरुष उन्नतिशील नहीं होते, वे आँखें बन्द करके रिवाज़ की गुलामी किया करते हैं। कोई बेहूदे से बेहूदा काम हो, कोई अधिक से अधिक हानिकारक प्रथा हो, कोई निकम्मी से निकम्मी रस्म हो, परन्तु उसे काम में लाना चाहिए। क्यों? इसलिए कि यह पुराना रिवाज है, पुरानी प्रथा है। उस पर अब सोचने-विचारने की ज़रूरत नहीं है। इसी रिवाज की गुलामी ने हिन्दू-जाति के भवन को खोदा और जर्जर बना रक्खा है।

यह बात सभी लोगों को अच्छी तरह कान खोल कर सुन लेनी चाहिए कि इन्हीं निकम्मी रस्म-रिवाजों की बदौलत हिन्दू-जाति का ह्रास और अपमान हो रहा है।

जब तक ये कुप्रथायें बाकी रहेंगी हिन्दू-जाति का सुधार असम्भव है। न विधवाओं की अवस्था सुधर सकती है, न हिन्दू-देवियों की मान-वृद्धि ही हो सकती है। न अछूतों की ही अवस्था ऊँची हो सकती है। निदान जिन रोगों में हिन्दू-जाति ग्रस्त है उनमें से एक की भी निवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिए आवश्यक है कि इन रोगों को दूर करके हिन्दू-जाति को स्वस्थ बनाए जाने के लिए प्रचलित कुप्रथाओं को दूर किया जावे। जब तक हार्वर्ड यूनिवर्सिटी में कुप्रथाओं का राज्य रहा वह एक साधारण यूनीटेरियन (Unitarian) कालिज रही जिसमें कभी ४०० से अधिक विद्यार्थी नहीं हुए। परन्तु जब से उसके सभापति इलियट (President Elliot) ने उन समस्त कुप्रथाओं को दूर कर दिया तब से वह अमरीका की यूनिवर्सिटी बन गई, जिस में इस समय ६००० से अधिक विद्यार्थी शिक्षा पाते हैं।

ये समस्त साधन, जिनसे मनुष्यों में मौलिकता और निर्भीकता आया करती है, मनुष्य के भीतर निहित होते हैं—उन्हें कहीं बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं; उन्हें अपने भीतर ही खोजने और खोज कर जागृत करने की चेष्टा करनी चाहिए। आत्म-शक्ति, आत्म-विश्वास और इसी प्रकार के अन्य गुण, जिनके प्राप्त होने से मनुष्य

शक्तिमान् बना करता है और जिनके शक्तिमान् होने से मौलिकता आदि गुण आया करते हैं, सब के सब आत्मा से सम्बन्धित हैं। आत्माओं को स्वच्छ तथा निष्पाप बनाओ, निस्पृह बनाओ, ईश्वर-विश्वासी बनाओ, तभी तुम ऐसे बन सकोगे कि तुम्हारे भीतर आगे बढ़ने का साहस उत्पन्न हो और तभी सचमुच तुम आगे बढ़ सकोगे।

रिवाज की गुलामी

किसी जाति या समाज के नेता वे ही पुरुष होते हैं जो बुरी रस्मोरिवाज को दूर करके उनका स्थान सुप्रथाओं को देने और दे सकने का साहस करते हैं। कायर पुरुष कितने ही योग्य क्यों न हों, किसी समाज के अगुआ इसीलिए नहीं बन सकते कि उनके भीतर निर्भीकता नहीं होती। जो पुरुष आगे बढ़ना चाहते हैं उनके भीतर दो गुणों का होना आवश्यक है—

(१) निर्भीकता (२) मौलिकता (Originality) किसी अनुपयोगी या हानिकारक प्रथा का केवल इस लिए अनुकरण करना कि वह नई या पुरानी है, मूर्खता है। ग्रहण करने के लिए एक ही बात देखनी चाहिए कि जिस बात को ग्रहण करना चाहते हैं वह कितनी उपयोगी है। यदि उपयोगी है, तो ग्रहण कर लो, यह मत सोचो कि वह नई क्यों है—पुरानी क्यों नहीं। यदि अनुपयोगी है तो छोड़ दो। उस समय भी यह मत सोचो कि वह नई है या पुरानी। आर्यसमाज का यह नियम कि "सत्य के ग्रहण करने और असत्य को त्यागने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए" सुनहरी अक्षरों में लिखे जाने योग्य है।

उन्नति-पथ का अनुकरण करने के लिए केवल यह देखे जाने की ज़रूरत है कि किस प्रकार हम समाज को आगे ले जा सकते हैं।

प्रत्येक पुरुष, जो संसार में उत्पन्न होता है, अपनी योग्यता, अपनी दिलचस्पी, और अपना मस्तिष्क पृथक् रखता है। यदि वह अपनी इन वस्तुओं से काम लेगा तो निश्चय है कि दुनियां में वह कुछ करके जायगा। परन्तु यदि उसने अपने मस्तिष्क में ताला लगाकर अन्यों के मस्तिष्क के पीछे चलना शुरू किया तो निश्चित है कि वह सदैव पीछे चलकर ठोकरें खाने वालों में ही रहेगा, उसका जीवन असफलता का जीवन होगा, वह संसार में कुछ न कुछ बुरा उदाहरण ही छोड़ कर जायगा। अमेरिका के एक सिनेमा-संचालक जोजेफ़ जेफ़रसन (Josseph Jefferson) ने नए अभिनय करने वालों को सम्बोधन करके एक बड़ी अच्छी बात कही थी। उसका कथन था कि वह मार्ग जिस पर चलने से निश्चित असफलता की सम्भावना है, यह है, कि मनुष्य अपने मस्तिष्क से काम न लेकर आँख बन्द करके अन्यों का अनुसरण करे। सफलता की नकल सफलता के साथ नहीं हो सकती। इसलिए उसी सफलता के प्राप्त करने के लिए यत्नवान् होना चाहिए, जो बिना नकल किये अपने ही पुरुषार्थ से प्राप्त हुआ करती है। वह शक्ति, जो मनुष्य को उसके उद्देश की ओर पहुँचाना चाहती है, उसके भीतर ही निहित रहती है और उसका चिह्न उसके पुरुषार्थ, उसके विश्वास, उसकी स्थिरता, उसकी

निर्भीकता, उसकी दृढ़ता, उसकी मौलिकता, उसके चरित्र में दिखाई दिया करती है। वे पुरुष, जो कठिनता से होने वाले कार्यों को असंभव कहा करते हैं, वही हुआ करते हैं जो पोसीदा रिवाजों के गुलाम हुआ करते हैं। प्रकृति का संदेश यह है 'कि बढ़ो या मरो' (Grow or Die is the Nature's Motto)

वेद में भी कहा गया है—

उत्क्रामातः पुरुषमाव पत्था मृत्योः षड्वीशमवमुञ्चमानः।
माच्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य सदृशः ॥ अथर्व ८।१।४ ॥

अर्थात् "इसलिए आगे बढ़ो, मत नीचे गिरो। मृत्यु के पाश को तोड़ता हुआ आगे बढ़, इस लोक से अग्नि रूप सूर्य के तेज से मत अलग हो।" वेद ने कितने सुन्दर और स्पष्ट शब्दों में बतलाया है कि मौत से भी निर्भीक होकर मनुष्य को आगे बढ़ना चाहिए। परन्तु यह तभी सम्भव है कि जब हम रिवाज की गुलामी में पड़ कर नीचे गिरने से अपने को बचा लेवें।

———

दरिद्रता

जगतोत्पादक प्रभु ने मनुष्य को कदापि इसलिये नहीं पैदा किया कि वह दरिद्रता, निराशा और दासता का जीवन व्यतीत करे। जब मनुष्य अपने आलस्य, प्रमाद और निराशा से अपने को अत्यन्त दरिद्र बना लेता है, तब प्रायः यह असंभव हो जाता है कि वह फिर मनुष्यत्व के असली गुणों से विभूषित हो सके। मनुष्य का अनिवार्य पतन उसी क्षण से आरम्भ हो जाता है, जब वह अपने को उस दुरावस्था के, जो दुर्भाग्य से प्राप्त हो गई है, अनुकूल बनाता है। उसको चाहिए तो यह था कि उस दुर्भाग्य को अस्थिर और अनायास रूप से बीच में आया समझ कर दूर कर देने के लिए जद्दो-जहद करता। परन्तु इसके विपरीत वह उसकी शरण ग्रहण करने में ही अपना सौभाग्य समझ रहा है। स्वयमेव दरिद्रता उतनी बुरी वस्तु नहीं है जितनी बुरी यह बात है कि उसके प्रभाव से मनुष्य अपने मस्तिष्क को प्रभावित होने दे और समझने लगे कि हम तो दरिद्र हैं, और दरिद्रता ही का जीवन व्यतीत करने के लिए पैदा किये गए हैं। यदि मनुष्य भीतर की दरिद्रता को दूर करदे तो उसका अनिवार्य फल यह होगा कि बाहर की दरिद्रता भी दूर हो जायगी। यह जगत्प्रसिद्ध सचाई

है कि मानसिक परिवर्तन के अनुकूल शारीरिक परिवर्तन हो जाया करते हैं। गिरावट के विचार रखना, गिरावट के व्यवहार करना मनुष्यों को उन्नति के पथ से विमुख कर देता है। दरिद्रता को एक विद्वान् ने मस्तिष्क से सम्बन्धित एक प्रकार का रोग बतलाया है। इसलिए उसको दूर करने के लिये सब से पहले उसका बहिष्कार मस्तिष्क ही से करना चाहिए। अन्यों का दृष्टिकोण बदलने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य पहले अपना दृष्टिकोण बदले।

(२) दरिद्रता का एक और मुख्य कारण यह होता है कि मनुष्य शिल्प, व्यापार, कृषि आदि आत्मावलम्ब के व्यवसायों की ओर से मुँह फेरकर दूसरों की सेवा और मज़दूरी की वृत्ति से नाता जोड़े। इस अन्तिम वृत्ति का आश्रय लेने से मनुष्यत्व के उच्च गुणों के ह्रास का सूत्रपात होकर मनुष्य गिरावट की अन्तिम सीढ़ी तक पहुँच जाता है। उसके भीतर से मौलिकता (Originality) का क्रमशः नाश होने लगता है, किसी नए काम के प्रारम्भ करने का साहस बाकी नहीं रहता, उसका व्यक्तित्व (Individuality) नष्ट हो जाता है, वह पूछताछ करने के योग्य नहीं समझा जाता। मस्तिष्क के निरन्तर काम में लाने से मनुष्य के भीतर नई बातों के खोज निकालने, और इस खोज निकालने की सामग्री के

बहुतायत से जमा होने के साधन, स्वयमेव गेहूँ के साथ घास की तरह उत्पन्न हो जाया करते हैं। परन्तु जब मनुष्य दूसरों के मस्तिष्कों के पीछे चलने वाला बन जाया करता है तब उसके भीतर यह साधन उत्पन्न ही नहीं होते। वह इस प्रकार आत्म-निर्माण की योग्यता से भी वंचित हो जाता है। दूसरों के सेन पर काम करते करते अपनी तजवीज़ों, अपने पुरुषार्थ, अपने कार्यक्रम पर भी उसे विश्वास बाकी नहीं रहता। सच तो यह है कि मनुष्य के भीतर चारित्र्य-बल स्वतन्त्र मस्तिष्क होने ही से आया करता है। इसलिए दरिद्रता से बचने का उपाय और सर्वश्रेष्ठ उपाय यह है कि मनुष्य ऐसे व्यवसायों में लगे जो उस के गुण-वृद्धि के साधक हों।

——

स्वप्नावस्था को उपयोगी बनाओ

वेद में लिखा है कि—

"यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति"

(यजुर्वेद ३४।१)

जिसका भाव यह है कि मस्तिष्क जिस प्रकार जाग्रत अवस्था में काम किया करता है उसी प्रकार स्वप्नावस्था में भी। मुख्य मस्तिष्क, जिसमें इच्छा-शक्ति निवास करती है, जाग्रत अवस्था में काम करता रहता है। परन्तु दूसरा मस्तिष्क, जिसका सम्बन्ध अनिच्छित कार्यों से है और जिसे उपचेतना (Sub-Conscious Mind) कहते है, स्वप्नावस्था में काम किया करता है। दूसरे मस्तिष्क का सम्बन्ध शरीर के समस्त कर्म से संबन्ध रखने वाली मांस-पेशियों से है। अतः दूसरे मस्तिष्क के प्रभावित कर देने से मनुष्य का समस्त धार्मिक जीवन प्रभावित हो जाता है। मनुष्य किस प्रकार अपने दूसरे मस्तिष्क को प्रभावित कर सकता है, उसके कतिपय साधन यहाँ बतलाये जाते हैं।

(१) कुछ एक अभ्यासों द्वारा, जिनके यहां देने की ज़रूरत नहीं है, यत्न करके ऐसी अवस्था ले आनी चाहिये जो जागने और सोने के बीच की अवस्था है। उस अवस्था में मनुष्य के उच्चारण किए गए प्रत्येक शब्द

का प्रभाव उसके दूसरे मस्तिष्क पर पड़ा करता है। जब तक यह अभ्यास न हो सके उस समय तक एक दूसरा प्रकार भी है जिससे मनुष्य, उपर्युक्त अभ्यास के किये बिना भी, थोड़ा बहुत काम चला सकता है। वह प्रकार यह है—

(२) जब समस्त कार्यों से निश्चित हो कर मनुष्य सोने के लिये अपने सोने के कमरे में प्रवेश करे और शान्ति के साथ शय्या पर लेट जावे, उस समय दिन के समस्त कार्यों से चित्त हटा कर, शरीर को शिथिल करके, नींद लाने की चिन्ता करता हुआ अपने चित्त को उस प्रकार के भावों से भर लेवे और उनका बार बार स्मरण करता रहे, जैसा वह अपने आपको बनाना चाहता हो। यदि इन्हीं भावों से पूर्ण-हृदय होकर वह सो जायगा तो ये भाव रात्रि भर काम करते रहेंगे और मस्तिष्क को प्रभावित कर देंगे।

(३) मनुष्य को आम तौर से अपनी अवस्था को उच्च बनाने के लिए आवश्यक है कि सोते समय यत्न करे कि—

(क) उदासीनता के भाव उस समय बाकी न रहें।

(ख) किसी प्रकार का क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष उसके हृदय में न रहे।

(ग) विषय-भोग के विचार, मन में न आने आवें।

(घ) प्रसन्नता और शान्ति के भाव अधिक से अधिक

मात्रा में जाग्रत हो जावें।

यदि चित्त के विक्षिप्त अथवा अत्यन्त चंचल होने से उपर्युक्त यत्न में सफलता न हो तो सोने वाले को यत्न करना चाहिए कि कोई अच्छा जीवन-चरित्र, कोई अच्छी शिक्षाप्रद पुस्तक पढ़ना शुरू करे और उसी को पढ़ता पढ़ता सो जावे।

(४) अथवा अपने या अन्यों के किए हुए ऐसे कार्यों का स्मरण करता हुआ सोवे जो अच्छे उपयोगी, और संसार के हर्ष-समुदाय के वृद्धिकारक हों।

(५) यह बात एक बार नहीं अपितु अनेक बार अनुभव में आ चुकी हैं कि सोते समय रोगों के विरुद्ध विचार करके एक रोगी अपने रोग को भी दूर कर सकता है।

(६) जो लोग भूत-प्रेत के काल्पनिक भय से भयभीत रहा करते हैं, वे भी सोते समय भूत-प्रेत की कल्पनाओं के विरुद्ध मानसिक आन्दोलन करके उस भय से मुक्त हो सकते हैं।

(७) बच्चों का दूसरा मस्तिष्क अपने कामों में बहुत फुरतीला और चुस्त हुआ करता है। इसलिये उनके रोगों की चिकित्सा बहुत सुगमता से, बिना किसी औषधि के—रोग के विरुद्ध उनके मस्तिष्क में आन्दोलन उत्पन्न करा देने मात्र से,—हो सकती है। जो बच्चे पढ़ने में सुस्त और हतोत्साही होते हैं, उनकी यह कुटेव भी

उपर्युक्त प्रकार से दूर हो सकती है।

मनुष्यों के भीतर दूसरे मस्तिष्क की अपूर्व शक्ति मौजूद है, जिसके द्वारा काम न लेने से वे अनेक सुफलों और सौभाग्यों से वंचित रहते हैं, और काम लेने से पुरुषार्थ के प्रत्येक विभाग में बड़ी से बड़ी सहायता पहुँचा सकते हैं। यदि इस मस्तिष्क से काम लेने की ओर ध्यान न दिया जावे और उपर्युक्त साधनों में से भी किसी से काम न किया जावे तो यह नहीं हो सकता कि दूसरा मस्तिष्क काम न करे। वह तो अपना काम करेगा जैसा कि सदैव करता ही रहता है। ऐसी दशा में विचारणीय बात यह होगी कि इस अवस्था में इस मस्तिष्क के कार्यों का आधारभूत क्या होगा? प्रश्न का उत्तर सुगमता से दिया जा सकता है, और वह यह है कि जो बातें सोते समय अनायास हमारे ध्यान में आजावेंगी अथवा उस समय जो बातें बिना सोचे समझे हमारी जबान से निकल जावेंगी, वे ही दूसरे मस्तिष्क के स्वप्नावस्था के कार्यों का केन्द्र बनेंगी। जिन नवयुवकों को स्वप्न दोष होने लगता है, खोज करने से पता चला है कि उनमें से कई ऐसे होते हैं जो सोते समय विषय-भोग का स्मरण करते हुए सो जाया करते हैं। उसका भयानक परिणाम स्वप्नदोष के रूप में उनके सामने आ जाता है। परन्तु अज्ञानवश वे यह नहीं समझते कि अपने शरीरों में इस घुन के लगाने

का कारण वे स्वयं ही हैं। यहाँ एक बात और भी समझ लेनी चाहिए कि जो शब्द हम उच्चारण किया करते हैं उन्हें दूसरे लोग तो पीछे सुनते हैं, सब से पहले वे उच्चारण-कर्ता के ही कान में पहुँचा करते हैं। हमारे शब्दों का जिस प्रकार का प्रभाव दूसरों पर पड़ा करता है उसी प्रकार का उनका असर हम पर भी हुआ करता है। हम कुछ बातें तो इरादा करके किया करते हैं, परन्तु कुछ शब्द बिना इरादे के भी हमारी ज़बान से निकला करते हैं। जैसे किसी को यह बुरा अभ्यास हो जाता है कि वह बात बात पर बातचीत करते हुए अपशब्द (गाली) मुँह से निकाला करता है। इसका नतीजा यह निकलता है कि इनका प्रभाव मस्तिष्क पर पड़ने से उसका स्वभाव सदा के लिए दूषित हो जाता है।

यह दो बातें उदाहरण के तौर पर यहाँ दी गई हैं। इसी प्रकार अनेक अच्छी और बुरी बातों का प्रभाव, मनुष्य के विचार और आचार के अनुसार, उस पर पड़ा करता है, और उसी के अनुकूल अच्छा या बुरा उसका भविष्य बनता रहता है। निष्कर्ष यह है कि दूसरे मस्तिष्क (Sub Conscious Mind) की शक्ति समझ कर उसे काम में लाकर अपनी स्वप्नावस्था को जाग्रत अवस्था के सदृश उपयोगी बना सकता है।

साम्यवाद

साम्यवाद एक बदला लेने का वाद है। जगत् में प्रचलित एक सार्वत्रिक नियम यह है कि जब अत्याचार बढ़ जाया करते हैं तब उनके नष्ट करने के लिए, रावण के लिये, राम की भांति कोई न कोई जवाबी तहरीक, कार्य और प्रतिकार्य (Action and Reaction) के नियमानुसार पैदा हो जाया करती है। योरुप के पुरातनकालीन धनिक समाज ने जो अत्याचार निर्बल और धनहीनों पर किए वे भी सीमा का उल्लंघन कर चुके थे। एक दो उदाहरणों से यह बात अच्छी तरह समझो जायगी।

रोमन राज्य में धनी और कुलीन 'पैटरीशियन' (Patrician) और निर्बल व धनहीन पुरुष 'प्लेवियन' (Plevian) कहलाते थे। होते होते यह दोनों समुदाय मालिक और गुलाम के रूप में परिवर्तित हो गए। धनिक लोगों के तमाशा देखने के लिए ये गुलाम शेरों से लड़ाए जाते थे। इन्हीं घटनाओं को लक्ष्य करके एक बार 'कारलायल' ने व्यंग से कहा था कि 'जिन कानूनों की रू से कोई जिमींदार शिकार से लौट कर दो गुलामों का वध करके उनके खून से पांव धोया करता था, वे अब प्रचलित नहीं हैं' और यह भी कि अब ५० वर्ष से शारलुअर की तरह इधर कोई ऐसा धनी पुरुष नहीं

हुआ जो इमारत का काम करते हुए राज-मज़दूरों को गोली मारे और उन्हें छत से गिरते हुए देखकर प्रसन्न होवे। इस प्रकार की अधिक घटनाओं के उल्लेख करने की ज़रूरत नहीं, परन्तु ये घटनायें थीं और ये अत्याचार थे जिन्होंने योरुप के निर्धन पुरुषों के दिलों को फाड़ते फाड़ते विवश कर दिया कि वे इन अत्याचारों का बदला लेने के लिए जवाबी तहरीक शुरू करें। यह जवाबी तहरीक शुरू हुई परन्तु प्रारम्भ में यह तहरीक निर्दोष और अहिंसात्मक थी और वह एक भ्रातृ-संघ (Brotherhood) का रूप रखती थी। इसका प्रादुर्भाव उस समय हुआ जब ईसा का जन्म होने वाला था। जन्म लेकर, समझदार हो जाने पर, स्वयं ईसा भी इस संघ के सदस्य बन गए थे। यह संघ उस समय अच्छा काम करता था। इसका सम्मिलित कोष था। समस्त सदस्य एक साथ बैठकर एक-सा भोजन 'सह वो अन्नभागा' की वैदिक प्रथानुसार करते थे और एक-सा वस्त्र पहिनते थे। दिन भर सभी सदस्य पृथक् २ अपना उद्यम करते थे परन्तु सायंकाल संघ में पहुँच कर उपार्जित धन को सम्मिलित कोष में दाखिल करके निश्चिन्त हो जाते थे। कुछ काल के बाद यह संघ 'फ्री मैसनरी सोसायटी' के रूप में आ गया। परन्तु इस संघ का सिद्धान्त अहिंसात्मक होने से धनियों को जो

शिक्षा मिलनी चाहिए था। वह इस संघ से नहीं मिल सकी और इसी से वे अपना अत्याचार नहीं छोड़ सके। 'निर्बलों को रसातल में चले जाना चाहिए' (The Weakest must go to the down) यह घातक सिद्धान्त भी उनके लक्ष्य से दूर नहीं हुआ। इसलिए योरुप में वही जवाबी तहरीक भयानक रूप धारण करके प्रकट हुई। पहले इसने 'निहलिस्ट' पैदा किए, फिर 'अनारकिस्ट' और अब नर्म होते होते वही तहरीक प्रचलित साम्यवाद के रूप में आ गई। इस प्रकार की जवाबी तहरीकों का उद्देश्य उन अत्याचारों का दूर करना ही हुआ करता है जो उनके जन्म का कारण हुआ करते हैं। उनके दूर हो जाने पर तहरीक का उद्देश्य पूरा हुआ समझा जाने लगता है, और उस (वाद) की आयु का वह भाग, जिसे युवावस्था कह सकते हैं, उन्हीं अत्याचारों की समाप्ति के साथ ही समाप्त हो जाता है। वाद की युवावस्था समाप्त होते ही वह तहरीक ढीली पड़ जाती है और यह सिग्नल (चिह्न) उसकी समाप्ति और उसकी मृत्यु का हुआ करता है। अतः स्पष्ट है कि यह साम्यवाद अपने प्रचलित रूप में कोई स्थायी वाद नहीं है। वाद का उद्देश्य कि—संसार से अमीर और ग़रीब का भेद दूर हो जावे और सब बराबर हो जावें, अव्यवहार्य है। संसार से इस भेद-भाव को दूर करने

का यत्न मानो प्रकृति (Nature) से लड़ाई करना है और इसलिए प्रचलित साम्यवाद नास्तिकवाद है। अतः उसको मज़हब से युद्ध ठानना पड़ रहा है। यह युद्ध असफल होगा और साम्यवाद को इसमें हार माननी पड़ेगी, क्योंकि यह युद्ध जहाँ एक तरफ़ प्राकृतिक नियम (Nature) के विरुद्ध है वहाँ दूसरी तरफ़ मनुष्य स्वभाव के भी प्रतिकूल है। इस सम्बन्ध में एक घटना का उल्लेख यहाँ किया जाता है। मुरादाबाद में एक धनी साहूकार की मृत्यु हुई। उसकी छोड़ी हुई सम्पत्ति बराबर बराबर दो पुत्रों में बँट गई। एक भाई ने अपने पुरुषार्थ से अपनी सम्पत्ति और भी बढ़ा ली। दूसरे भाई ने कुसंगति में पड़ कर जुआ, मद्यपान, वेश्यागमन आदि दुर्व्यसनों में अपना समस्त धन खो दिया और रोटियों के लिये मुहताज हो गया। जब दूसरे भाई ने आठ आने रोज़ाना उसे देना शुरू किया, तब कहीं रोटी मिलने लगी। दोनों के पास बराबर धन था परन्तु बात वैसी बनी नहीं रही। अब बतलाओ, इसका क्या इलाज होगा ? किस प्रकार फिर ये दोनों भाई बराबर बराबर सम्पत्ति वाले किए जावेंगे ? स्वयं रूस को देखो जो साम्यवाद का अड्डा समझा जाता है। वहाँ भी इस समय कृषक चार भागों में विभक्त हैं, उनमें एक इतने ग़रीब है कि रूस की सरकार को विवश होना पड़ा कि

उनसे लगान न लेवे। परन्तु एक विभाग उन कृषकों का इतना धनवान् है कि उन्हें रूस की सरकार को इजाज़त देनी पड़ी कि वे मोटर भी रख सकें, और अन्यों को मज़दूर रख कर उनसे अपनी खेती का काम भी करा सकें। जब रूस ही में रूस की बोल्शेविक सरकार रूस की समस्त प्रजा को साम्यवादी नहीं बना सकी तो संसार में सबको बराबर बना देने के यत्न को तो बन्ध्या-पुत्र से क्रीड़ा करने और खपुष्प की सुगन्धि लेने की इच्छावत् ही कह सकते हैं। मनुष्य अपने कर्मों से अच्छा बना करता है और अपने ही कर्मों से बुरा। इसलिए सभी के लिए आवश्यक यह है कि इस कर्म के वाद को अपने लक्ष्य में रक्खें और यत्न करें कि संसार के सभी प्राणी शुभ-कर्म-निष्ठ हो जावें। यदि संसार में सब सदाचारी हो जावेंगे तो स्वयमेव फिर कोई भी बाकी न रहेगा। जो रोम का 'नीरू' या रूस का 'ज़ार' बने और उस समय किसी जवाबी तहरीक की ज़रूरत भी बाकी न रहेगी।

धर्म और विज्ञान

उन्नीसवीं शताब्दी के कई ज्ञानानल विदग्ध वैज्ञानिक 'बेकन' के अनुगामी अधूरे तार्किकों की भान्ति नास्तिक कहलाना एक फैशन समझते थे। उनका ख़्याल था कि ईश्वर और धर्म—ये दोनों सभ्य संसार में स्थान पाने के योग्य नहीं। इस तर्क का कारण वे यह बतलाते थे कि ईश्वर की सत्ता स्वीकार करने के ये अर्थ हैं कि मनुष्य अपने हाथों ही अपना बन्धन पैदा करे। और धर्म तो लड़ाई झगड़े की चीज़ है ही। धर्म का ग्राहक बनने के यह अर्थ हैं कि लड़ाई झगड़े खरीदे जाएँ।

इन्हीं विचारों से प्रभावान्वित होकर इधर निटशे ने घोषणा की कि इस विज्ञान के युग में ईश्वर की मृत्यु हो गई, और उधर मेकाइल बुकनिन ने दावा किया कि यदि सचमुच ईश्वर कहीं मौजूद हो तो उसका अस्तित्व ही उठा देना चाहिये।

इन वैज्ञानिकों का यह गर्व विज्ञान के नये नये आविष्कारों की चान्दनी में चुंध्या जाने के कारण पैदा हो गया था। किन्तु इन भले आदमियों ने कभी यह तकलीफ़ उठाने का ख़्याल नहीं किया कि आखिर विज्ञान के ये आविष्कार कोई दूसरा पहलू भी रखते हैं अथवा नहीं!

विज्ञान के आविष्कारों का दूसरा पहलू

यदि वे इस बात का ख्याल करते तो उन्हें मालूम हो जाता कि जिन्हें वे विज्ञान के आविष्कार कहते हैं वास्तव में वे आविष्कार नहीं हैं, बल्कि वे तो वैज्ञानिकों के परिमित अथवा नितान्त अज्ञानता को स्वीकार करने के जीते जागते भाव हैं। दो एक आविष्कारों पर ध्यान देने से यह बात समझ में आने लगेगी। कहते हैं कि न्यूटन ने पृथिवी के आकर्षण-सिद्धान्त को ढूंढ़ निकाला। क्या इस सिद्धान्त का यह अर्थ है कि पृथिवी में पहले आकर्षण नहीं था, और यह न्यूटन ने पैदा कर दिया ? कभी नहीं। पृथिवी में आकर्षण तो तब से ही चला आ रहा है, जब से पृथिवी अस्तित्व में आई थी।

फिर आविष्कार के क्या अर्थ होंगे ? आविष्कार का अर्थ केवल इतना है कि वर्तमान काल के वैज्ञानिक इस आकर्षण शक्ति के विज्ञान से अनभिज्ञ थे, और न्यूटन ने इसका परिचय प्राप्त किया। बस, इसी परिचय प्राप्त करने—ज्ञान पाने—का नाम ही आविष्कार है।

कहते हैं कि सर जगदीशचन्द्र बसु ने यह आविष्कार किया है कि पौधों और वृक्षों में भी अन्य जीव जन्तुओं की भान्ति प्राण-शक्ति है। उनके अन्दर सब काम इसी

तरह होते हैं जैसे सर्व प्राणीवर्ग के शरीर में हुआ करते हैं। इस आविष्कार का भी यही अभिप्राय है कि वैज्ञानिकों में सब से पहले विज्ञान-वेत्ता डा० वसु हैं, जिन्होंने वनस्पतियों में भी प्राण-शक्ति का ज्ञान प्राप्त किया है। वनस्पतियों में प्राण-शक्ति तो उनके साथ तब से ही हैं जब से उनका अस्तित्व हुआ था। किन्तु विज्ञान-वेत्ता लोग उससे परिचित नहीं थे। अब उन्होंने इसका ज्ञान प्राप्त कर लिया है। बस, इसी ज्ञान का नाम आविष्कार है।

ईश्वर के रचे हुए जगत् के अन्दर सैकड़ों और हजारों नियम अब भी ऐसे काम कर रहे हैं जिनकी वैज्ञानिकों को कुछ खबर नहीं। इसी तरह की और कई विद्यायें हैं। क्या उनमें से कुछ का ज्ञान प्राप्त कर लेने से मनुष्य के अन्दर इतना गर्व आ जाना चाहिये कि वह इन नियमों को बनाने वाले और प्रचलित करने वाले के अस्तित्व को ही भुला दे?

यह बात थी जिस पर वैज्ञानिकों को विचार करना पड़ा, और प्रसन्नता की बात है कि बीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिक इस भूल में नहीं पड़ रहे हैं, जिसमें उन्नीसवीं शताब्दी वाले पड़े हुए थे। डा० फ्लेमिंग (Dr. Fleming) ने सन् १६१४ ई० के वैज्ञनिकों के सप्ताह में विज्ञान और धर्म में कितना अन्तर है, इस विषय पर विचार करते

हुए कहा था—

"विज्ञान और धर्म एक दूसरे के विरुद्ध नहीं, वे एक दूसरे की उपेक्षा भी नहीं करते, बल्कि एक दूसरे के सहायक हैं।

किस तरह और क्यों ? इनमें से किस तरह का उत्तर, विज्ञान देता है, और क्यों का धर्म। जगत् किस तरह बना ? यह विज्ञान बतलायेगा। किन्तु जगत् क्यों बना ? इसका उत्तर विज्ञान नहीं दे सकेगा। वह तो धर्म ही दे सकेगा। ईश्वर ने इस जगत् को क्यों रचा है ?

इस तरह जिन दो प्रश्नों का उत्तर लेने ही से किसी वस्तु की वास्तविकता मालूम हुआ करती है, उनमें से एक का उत्तर विज्ञान देता है और दूसरे का धर्म।

इससे स्पष्ट है कि ये दोनों एक दूसरे की सहायता करने वाले हैं, एक दूसरे के विरोधी नहीं। इस तरह हमने देख लिया कि अब, विज्ञान धर्म की तरफ झुक रहा है। यह विनिमय, इतना बड़ा परिवर्तन (Changing) विज्ञान के दृष्टि-कोण में क्यों हो गया ? इसका कारण और एकमात्र कारण वह ठोकर थी जो ऋषि दयानन्द ने नास्तिक-जगत् को लगाई, जिससे प्रत्येक शक्ति को अपनी स्थिति पर विचार करने और उसमें आवश्यक तबदीली करने के लिये बाधित होना पड़ा।

———

भारतीय-दर्शन का वास्तविक रूप

मनुष्य-शरीर पाँच भागों में विभक्त है—अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोष। इनमें से पहले दो कोष मनुष्य को कर्म करने के योग्य बना देने के साधन हैं और अन्तिम के तीन कोष उसके चरम-उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। इन अन्तिम कोषों के विषय का नाम ही दर्शनशास्त्र है। भारतीय अपना उद्देश्य स्पष्ट शब्दों में मोक्ष—ईश्वर-प्राप्ति—ईश्वर का प्रेम, बतलाता है। इसलिए उसमें योगदर्शन का भी समावेश किया गया है जिसमें सदा के लिए एकाग्रता-प्राप्ति के उद्देश्य से 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' यह सूत्र आया है। इसका अभिप्राय है—योग की प्राप्ति के लिए एकाग्रता पाने के लिए—ईश्वर की भक्ति आवश्यक है। पश्चिमीय देशों में जब दर्शन के लिए (Philosophy) शब्द की उद्भावना की गई थी तब उसका भाव निश्चित हुआ था—"Love of Wisdom—Philosophy और Knowledge—Wisdom and Love together:"

इससे स्पष्ट है कि Wisdom ज्ञान और योग के सम्मिश्रण का नाम है। उसी के प्रेम का नाम फ़िलासफ़ी है। अर्थात् फ़िलासफ़ी का उद्देश्य है—मनुष्य में ज्ञान के प्रति प्रेम उत्पन्न करना।

इसी तरह दर्शन और फ़िलासफ़ी के उद्देश्य पर विचार करते हुए अब अन्तिम तीन कोषों की कार्य-प्रणाली पर दृष्टि डालनी चाहिए।

मनोमय कोष

नीचे के मन के द्वारा संसार की घटनाओं और उनके पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन-कार्य का ज्ञान।

कांट ने इसका नाम Phenomena रक्खा है, इसे बहिर्मुखी वृत्ति भी कहते हैं।

विज्ञानमय कोष

उच्च मन के द्वारा—बुद्धि के बल से संसार की घटनाओं के कारण पर विचार करना—अर्थात् कारण ज्ञान। कांट ने इसका नाम Nonmena Intellect रक्खा है।

आनन्दमय कोष—

अन्तर्मुखी वृत्ति को जागृत करने का स्थान, यह आत्मा के अधीन है।

विज्ञानमय कोष, मनोमय कोप और आनन्दमय कोप के बीचों-बीच दीवार की तरह एक को दूसरे से पृथक् करने वाला और साथ ही उन दोनों में समता Harmony रखने वाला भी है।

मनुष्य का पुरुषार्थ इतना है कि वह तीनों कोषों

में अपनी सत्ता के लिये ज्ञान Consciousness पैदा कर दे। बस, दर्शन अथवा फ़िलासफ़ी का इतना कर्त्तव्य है कि वह मनोमय कोष को विज्ञानमय कोष की ओर प्रेरित करे और विज्ञानमय कोष को आनन्दमय कोष की ओर।

तीनों में जभी समता Harmony पैदा हुई, तब मतवाला जीव केवल मत प्रकृति की ओर न जाकर सत्, चित्, आनन्द की ओर भी जाने के लिये यत्न करने लगता है।

फ़िलासफ़ी—तर्क बुद्धि—के साथ प्रेम हुआ कि मनोमय कोष विज्ञानमय कोष की तरफ़ झुकने लगा। इसके आगे विज्ञानमय कोष को आनन्दमय कोष की ओर प्रेरित करना अन्तर्मुखी वृत्ति (निदिध्यास) का काम है। यही धर्म-योग, ज्ञान और कर्म की समता है।

——:०:——

समाज में नवजीवन का
संचार कैसे हो ?

शिवरात्रि के दिन आर्यसमाज के संस्थापक ऋषि दयानन्द को बोध हुआ था कि 'मन्दिरों का शिव असली शिव नहीं है, अतः असली शिव की खोज करनी चाहिए'। इसीलिए आर्य समाज में यह पर्व 'बोधोत्सव' के नाम से मनाया जाता है। गत ऋषि दयानन्द-जन्म-शताब्दी के महोत्सव के समय यही दिन ऋषि दयानन्द का जन्म-दिवस भी ठहराया गया था इसलिए इसको दयानन्द-जन्मोत्सव भी कहने लगे हैं।

ऋषि दयानन्द का जन्म-दिवस

यह पर्व जन्म की दृष्टि से नहीं किन्तु बोध की दृष्टि से ही जन्म-दिवस ठहराया गया है। इस बोध ही का फल था, जिससे स्वामी जी मूलजी दयाराम से दयानन्द बने। अभी कुछ दिन बीते जब एक जन्म-पत्री दिखाई गई थी और उसे स्वामी जी की जन्म-पत्री होने का विश्वास दिलाया गया था। यह जन्म-पत्री मथुरा-निवासी पं० मोहनलाल के पास है। इसके सम्बन्ध में कहा गया था कि ४० वर्ष हुए जब यह किन्हीं बाबू नगीनदास भाटिया के किसी समाचार-पत्र में छपी थी। इस जन्म-कुण्डली के रूप से ऋषि दयानन्द का जन्म

भादों सुदी नवमी को गुरुवार के दिन संवत् १८८१ वि०, शाका १७४६ में हुआ था। परन्तु इस जन्म-कुण्डली के शुद्ध और ठीक होने का कोई प्रमाण नहीं है। मथुरा में तलाश करने से उपर्युक्त समाचार-पत्र की अभीष्ट कापी भी नहीं मिली, इसलिए सम्प्रति बोधोत्सव और जन्मोत्सव दोनों शताब्दी सभा के निश्चयानुसार शिवरात्रि ही को समझना ठीक होगा।

ऋषि दयानन्द का काम और आर्यसमाज

ऋषि दयानन्द ने बोध होने के बाद सफलता के साथ असली शिव की खोज की, उसे प्राप्त किया, और यत्न किया कि अन्यों को भी उसकी प्राप्ति हो, और दूसरे अन्तिम यत्न की पूर्ति के लिए आर्यसमाज की स्थापना की। आर्यसमाज के स्थापित होने से अनेक पुरुष-स्त्री उसके सभासद बने। उस समय के सभासदों की मनोवृत्ति यही थी कि प्रत्येक सम्भव साधन से वेद-प्रचार करके ऋषि के छोड़े काम को पूरा किया जावे।

आर्यसमाज का प्रचार-युग

उन्होंने बड़ी तत्परता से इस को पूरा करने का यत्न किया। परिणाम सन्तोषजनक हुआ, आर्यसमाजों की संख्या बढ़ी, आर्यों की जन-संख्या में असाधारण वृद्धि हुई। आर्यसमाज का प्रत्येक सभासद अच्छे प्रचारक का कार्य करता था। इसलिये सभासदों की

वृद्धि का यह अनिवार्य परिणाम था जो हुआ। एक प्रचारक को, जो सफलता के साथ प्रचार करना चाहता है, आवश्यक है कि जिन बातों पर वह अन्यों को चलाना चाहता है उन पर स्वयं चले। इसलिए वे सभासद् प्रायः कर्मनिष्ठ और सदाचारी हुआ करते थे, और उनके विचार ही में नहीं, किन्तु आचार में भी आकर्षण था। जो उनके सम्पर्क में आता था, उधर खिंचे बिना नहीं रह सकता था। आर्यसमाज की उन्नति के साथ आर्यसमाज की यश-वृद्धि हुई और शिक्षित-समाज आर्यसमाज को आशाभरी दृष्टि से देखने लगा। इस यश-वृद्धि से आर्यसमाज की अधिक उन्नति होने में चार चाँद लगे। आर्यसमाज का यहाँ तक का इतिहास उज्ज्वल इतिहास है, प्रेम का इतिहास है, चरित्र का इतिहास है, संगठन का इतिहास है, परस्पर-प्रीति और सेवा का इतिहास है। अब आगे आर्यसमाज के कर्तृत्व का रुख बदला और एक दूसरे युग का प्रारम्भ हुआ जिसे मैं प्रायः संस्था का युग कहा करता हूँ।

संस्था-युग

ऋषि दयानन्द के स्मारक में कालिज खोलने की तजवीज़ हुई, विचार कार्य में परिवर्तित हुआ। कालिज खुले, स्कूल खुले, गुरुकुल-पाठशालायें खुलीं, अनाथालय बने, कन्या-पाठशालायें बनीं, विधवा-आश्रम स्थापित

हुए, निदान संस्थाओं की भरमार हो गई। आर्यसमाज के अधीन कितनी संस्थाएँ हैं इसका अनुमानिक विवरण इस प्रकार है, जो ठीक है—

संस्थाओं की संख्या

७ कालिज, २०० हाई स्कूल १५० अंग्रेजी मिडिल स्कूल, १२६ प्राइमरी स्कूल, और १४१ रात्रि स्कूल हैं। २८ गुरुकुल, ३०० संस्कृत-पाठशालाएँ, ३ कन्या गुरु-कुल, १ कन्या-कालिज, २ कन्या-हाई स्कूल, ७०० कन्या-पाठशालाएं, ५० अनाथाश्रम, ४० विधवाश्रम, १४ मुफ्त दवाखाने और ३० छापेखाने हैं, जिनसे ४० से ऊपर समाचार-पत्र निकलते हैं। इनके सिवाय और भी अनेक संस्थाएँ है, विस्तार के भय से जिनका जिक्र छोड़ दिया गया है। इन संस्थाओं के बाहुल्य से आर्यसमाज से बाहर के लोगों को यह जानकर चकित होना पड़ा कि आर्यसमाजियों में कितनी प्रबन्धदक्षता और संगठन-निपुणता है। इन संस्थाओं से आर्यसमाज की यश-वृद्धि भी हुई, उसकी धाक बँधी और बाहरी लोग उसका रोब मानने लगे। परन्तु इसके साथ ही उन संस्थाओं की वृद्धि का एक अन्धकारमय पहलू भी है। और वह यह है :—

संस्था-वृद्धि का अन्धकारमय पहलू

आर्यसमाज में प्रायः मध्यम श्रेणी के लोग थे और

हैं। उनके पास इतना धन न था और न है जिससे वे इन संस्थाओं की बढ़ती हुई बाढ़ का मुक़ाबिला करते। फल यह हुआ कि धन की बढ़ती हुई माँग ने मज़बूर किया कि आर्य-पुरुष धनियों के द्वारों को खटखटायें, उन्हें ऐसा करना पड़ा। धनी सार्वत्रिक नियमानुसार अधिकतर सच्चरित्र नहीं हुआ करते। धन के प्रलोभन से आर्यों की ज़ुबान बन्द हुई, होठों को ताला लगा। अब वे उनकी अनाचारता के विरुद्ध मुँह नहीं खोल सके। धन मिलने के प्रलोभन ही से उन्होंने ऐसे असदा-चारी पुरुषों को अपना प्रधान बनाया, मन्त्री बनाया। इस सब का फल यह हुआ कि आर्यों के भीतर सदाचार का प्रेम कम हुआ, कर्म-निष्ठ में ढीलापन आया, मनो-वृत्ति बदली और इस परिवर्त्तन का अनिवार्य फल यह हुआ कि आर्यसमाज में निकम्मे और अनाचारी पुरुषों का प्रवेश हुआ, पदों का प्रेम बढ़ा और साथ ही झगड़े भी बढ़े। संस्थाओं के पदाधिकार की ममता ने लड़ाई कराई, आर्य-मन्दिरों में ताले डलवाये और इसी प्रकार के अनेक दुष्कृत्य हुए। कचहरियों में मुक़द्दमे भी दायर हुए। आर्यसमाज से सहानुभूति न रखने वाले पुरुषों को भी आर्यों ने अपनी २ पार्टीबन्दी में शामिल करके अपना जत्था बढ़ाया और इस प्रकार आर्यसमाज जैसा पवित्र और श्रेष्ठ समाज धड़ेबन्दी का मैदान और युद्ध की

भूमि बन गया। आज हम दुर्भाग्य से इसी युद्धक्षेत्र बने हुए समाज में श्वास ले रहे हैं।

अन्तिम प्रार्थना

बन्धु-वर्ग ! समाज की जो दशा इस समय हो रही है उसी का ऊपर चित्र खींचा गया है। ऋषि दयानन्द को जिस पवित्र रात्रि में बोध हुआ था वह हमारे सन्मुख है। क्या यह अच्छा न होगा कि इसी पवित्र रात्रि में प्रत्येक नर-नारी एकान्त में बैठ कर अपनी अवस्था पर विचार करें, और अपने भीतर यदि उपर्युक्त त्रुटियों में से किसी को पावें तो निकाल कर बाहर फेंक देवें और कमर कस कर तय्यार हो जावें और यत्न करें—और बलपूर्वक यत्न करें कि आर्यसमाज के कर्तृत्व का मुँह फिर प्रचार-युग की ओर फेर देवें। जो संस्थायें अपने पाँव पर खड़ी हो सकती हैं, अपने पाँव पर खड़ी हो जावें, वे हमारे सिर माथे पर ! परन्तु जिन संस्थाओं के लिये सदैव भीख माँगनी पड़ती है उनको फेर-फार कर इस योग्य बना देवें कि उनके लिए भीख माँगना बन्द हो जावे। और जो संस्थायें ऐसी हैं कि जिनका काम भीख माँगे बिना चलना असम्भव है, उन्हें कल की बजाय आज ही बन्द कर देना चाहिए और निश्चय कर लेना चाहिए कि भविष्य में कोई नई संस्था न खोली जावे और सारी शक्ति प्रचार

में लगाई जावे, और न केवल धन ही प्रचार में लगाया जावे किन्तु तन और मन भी, जिससे आत्म-सुधार भी हो और आर्यसमाज सुपथ पर आकर इस योग्य हो जावे कि दीर्घायु प्राप्त करे।

भगवान् से प्रार्थना !

वेद में एक ऋचा आती है जिसका अर्थ यह है—हे ईश्वर ! हमें जिस पापरूपी रस्सी ने जकड़ रक्खा है, उसे आप खोल दीजिए, जिससे हम आपके सृष्टि-नियम के प्रवाह को बढ़ा सकें। हमारी बुद्धि के तन्तुओं को मत बाँटिये और समय से पहले हमारे कर्मों की मात्रा में कमी न आने दीजिए।

इस ऋचा में चार बातों का उल्लेख हुआ है। पहले ईश्वर से प्रार्थना की गई है कि पापरूपी जिस रस्सी ने हमें जकड़ रखा है वह खुल जाए। दूसरी है—हम सृष्टि के नियमों का प्रसार कर सकें। तीसरी, इसके परिणाम स्वरूप यह है—बुद्धि के विस्तार में कमी न आने पाये। और तीनों का परिणाम यह चौथी बात है कि समय से पहले हम पर मौत न आ जाय।

प्रार्थना क्यों की जाय ?

इस ऋचा को पढ़ने पर सब से पहला प्रश्न जो अपने और बेगानों के विषय में उठता है यह है, कि जब तुम्हारा सिद्धान्त यह है कि मनुष्य जो कर्म करता है उसके अनुसार ही उसे फल मिलता है उससे कम अथवा अधिक नहीं—तो प्रार्थना क्यों की जाए ?

ऐसा संदेह जिनके हृदय में पैदा होता है वे इस बात को भूल जाते हैं कि प्रार्थना भी उनका एक प्रकार का कर्म है। इसके दो पहलू हैं—एक प्रार्थना है कर्मरूप में, और दूसरी है उसकी फल-प्राप्ति के लिये। अब प्रश्न यह है कि कर्म का फल भी मिलता है? और जिस वस्तु की प्राप्ति चाहते हैं क्या वह भी मिलता है? वेद इन दोनों की प्राप्ति बताता है।

प्रार्थनारूपी कर्म का फल क्या मिलता है? यह कि प्रार्थना करने वाले व्यक्ति के अन्दर नम्रता आती है। और जिस वस्तु की प्राप्ति के लिये प्रार्थना की जाती है उस की प्राप्ति के विषय में ऋग्वेद में लिखा है कि वह प्रभु उसे देने में कुछ भी संकोच नहीं करता है जिसके लिए तुम प्रार्थना करते हो। किन्तु वह देता कब है? जब वह समीप से माँगने वाले की प्रार्थना सुनता है। अब प्रश्न होता है कि हम कैसे समीप से ईश्वर को अपनी वाणी सुना सकते हैं? और ईश्वर की समीपता के क्या अर्थ हैं, जब ईश्वर सर्वव्यापक है?

यद्यपि ईश्वर सर्वव्यापक है तथापि जब हम उसे पाना चाहते हैं तो कैसे पा सकते हैं? इस विषय में उपनिषद में लिखा है कि ब्रह्मज्ञानी शिक्षा देते हैं कि परमात्मा और आत्मा हृदय-मन्दिर में ही निवास करते हैं। इसलिए यदि तुम परमात्मा को कुछ सुनाना चाहते हो

तो हृदय-मन्दिर में प्रवेश करो, कहीं बाहिर जाने की आवश्यकता नहीं। वेद ने भी आज्ञा दी है कि योगी पुरुष परमात्मा को हृदय-मन्दिर में ही देखा करता है। यदि तुम उसे प्राप्त करना चाहते हो तो आत्मा के मन्दिर में प्रवेश करो। इस लिए वेद उपनिषद आदि सब से यही शिक्षा मिलती है कि ईश्वर की प्राप्ति के लिए हृदय-मन्दिर में प्रवेश करना चाहिए।

इस से मालूम हुआ कि प्रभु को अपनी आर्तवाणी सुनाने का साधन जिह्वा नहीं, हृदय है। यदि हमारी प्रार्थना केवल जिह्वा से न हो बल्कि हृदय से हो तो हम उसे ईश्वर तक पहुँचा सकते हैं। जब वे सुन लेंगे तो उसे पूरा भी अवश्य कर देंगे। ऋग्वेद की आज्ञा है कि तुम जो कुछ चाहो वह तुम्हें मिल सकता है, यदि तुम उसे परमात्मा के समीप होकर सुना दो।

प्रार्थना की विधि

अब देखना यह है कि हृदय की प्रार्थना कैसे हो सकती है ?

जब हृदय की प्रार्थना होगी तो हृदय का उस से विरोध नहीं होगा। जब हृदय स्वयं प्रार्थना करेगा तो इच्छा-शक्ति बलवान् हो उठेगी। जब किसी वस्तु को पाने की प्रबल इच्छा पैदा हो जाती है तो वह वस्तु सुगमता से मिल जाती है। मनुष्य का हृदय अच्छे विचार रखता हो तो

वह प्रत्येक वस्तु अपने अनुकूल बना सकता है। यदि विचार निर्बल होंगे तो मनुष्य पुष्ट नहीं हो सकेगा। यदि वीरता के विचार होंगे तो मनुष्य भी वीर होगा। मूल-वस्तु तो हृदय के विचार हैं। इसे योरुप के विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। और कहा है कि हमारा भविष्य विचारों की परम्परा से बनता है।

'Old Days. Its And Cure' नामक पुस्तक में इस प्रश्न की मीमांसा की गई है कि मनुष्य वृद्ध क्यों होता है? उस में बताया गया है कि मनुष्य का शरीर जिन परमाणुओं (cells) से बना है वे टूटते और बदलते रहते हैं, यहाँ तक कि वे दो वर्ष में ही बदल जाते हैं। इससे शरीर प्रति दो वर्ष के बाद नया हो जाता है, तो बुढ़ापा आ जाने का क्या तात्पर्य? इसका उत्तर यह दिया गया है कि मनुष्य बूढ़ा होता है, तो अपने विचारों से। बुढ़ापा स्वयं नहीं आता, बल्कि हम उसे अपने आप ही बुलाते हैं। फिर वह कैसे न आए? यदि तुम बुढ़ापे के विचार भी मन में न आने दो तो सदा पुष्ट और हृष्ट रह सकते हो।

इसी तरह एक वैदिक ऋचा में कहा गया है कि हे प्रभो! हमारी पाप-रूपी रस्सी को काट दो। इस के अर्थ हैं कि हम पाप से रहित हो जावें। यह पाप की प्रवृत्ति कैसे हुई—पाप कैसे उत्पन्न हुआ? इसका उत्तर प्रत्येक

देश की पौराणिक गाथाओं में भिन्न २ दिया गया है। किन्तु वेद ने पाप को बताया है—उल्टे रास्ते पर जाना, मिथ्या ज्ञान। परमात्मा से प्रार्थना की गई कि इस पाप की रस्सी को काट दीजिये, इस लिये कि हम निष्पाप हो जावें, और उसी के पात्र बनें। हम पात्र कब बन सकते हैं इसका उत्तर वेद देते हैं। पहले तुम प्राण-प्रण से यत्न करके अपने आपको थका दो, इस से तुम प्रभु की दया के पात्र बनोगे। और दया के पात्र बन जाने से तुम उससे जिस वस्तु की प्रार्थना करोगे वही वस्तु तुम्हारे सामने आ जायगी।

इसका एक उदाहरण है—माता अपने काम में लगी है। उस का छोटा बालक एक तरफ़ खेल रहा है। उसे भूख लगती है, वह चल नहीं सकता किन्तु अपनी ओर से यत्न करने में कोई कसर नहीं छोड़ता, लुढ़कता पड़ता माता के पास पहुँच जाता है। देखता है कि माता पास खड़ी है किन्तु उस के स्तनों तक पहुँचना उस की शक्ति से बाहर है। तब वह क्या कर सकता है, आशा-भरी दृष्टि से माता की ओर देखता है, माता का हृदय प्रेम से पुलकित हो उठता है, वह उसे उठा कर छाती से लगा लेती है और दूध पिला कर उसकी भूख मिटा देती है।

इसी तरह, यदि हम पाप से बचना चाहें तो हमें इतना प्रयत्न करना चाहिये कि हम थक कर हार जावें।

जब आगे चलना हमारी शक्ति से बाहर हो जायगा तो दयामय प्रभु अपनी दया से वह वस्तु हमें स्वयं दे देंगे जिसकी तरफ हमारी सदा आशा-भरी दृष्टि लगी रहती थी।

हमारा जीवन निष्पाप हो

जब हम निष्पाप हो जाएँगे तो क्या होगा ? हम सृष्टि के नियमों का विस्तार कर सकेंगे। आजकल का नया आचार वेद का प्रचार नहीं कर सकता। नियमों का विस्तार हम कब कर सकते हैं ? जब पहले हम स्वयं उन्हें अपने जीवन में धारण करें। अर्थात् पहले अपने आप को निष्पाप बनायें। निष्पाप होकर ही हम परम धर्म का, वेद का, और सत्य का प्रचार कर सकते हैं। सत्य के प्रचार का क्या अर्थ है ? हम वेद के उन सुन्दर सिद्धान्तों का, जो तीन काल के लिए एक से रहने वाले हैं, प्रचार करें।

सत्य का प्रचार करना हमारा परम कर्त्तव्य है यह हमारे ऊपर ऋषि-ऋण है। निष्पाप जीवन बिताने से ही हम इस ऋण से उऋण हो सकते हैं।

अब, जब हम निष्पाप हो जायेंगे तो हम उन साधनों का प्रचार कर सकेंगे जिनसे हम स्वयं पाप से छूटे हैं। इसके प्रचार से बुद्धि की कुटिलता दूर होगी। बुद्धि का अच्छा बुरा होना विचारों पर अवलम्बित है।

यदि हमारे विचार अच्छे होंगे तो बुद्धि भी पवित्र हो जायेगी। यदि विचार बुरे हुए तो बुद्धि कुटिल और कुण्ठित होगी। यह पाप-बुद्धि हमें पाप की ओर ले जायेगी। बुद्धि अच्छी होनी चाहिये इसी से हम ईश्वर को पा सकते हैं।

जब हम निष्पाप हो जायेंगे और निष्पाप होने के साधनों को दूर २ तक फैलाएँगे तो इसका स्वाभाविक फल होगा, कि हमारी बुद्धि निर्मल होनी शुरू होगी और यहाँ तक निर्मल हो जायेगी कि हमें पूर्ण मनुष्य बना देगी इससे हमारी आयु का ह्रास कभी नहीं हो सकेगा।

वेद में लिखा है कि ईश्वर सत्य में प्रतिष्ठित है। तुम सत्य की उपलब्धि करो, ईश्वर स्वयं प्राप्त हो जायेंगे। सत्य कहाँ है? सत्य बल में है। तुम बलवान् बनो, सत्य उपलब्ध हो जायेगा। बल की रक्षा कैसे होगी? बुद्धि से। बुद्धि से बल की और बल से सत्य की रक्षा कर सकते हो, और सत्य से ईश्वर को प्राप्त कर सकते हो। क्यों कि सत्य, बल और बुद्धि के रहने से किसी भी मनुष्य के अन्दर नास्तिकता के भाव नहीं रह सकते। आस्तिकता के भाव स्वयं ही आ जाते हैं।

कहा जाता है कि योरुप में भी तो सत्य, बल और बुद्धि मौजूद हैं, फिर वहाँ नास्तिकता क्यों है? इसका

उत्तर यह है कि वहाँ ये तीनों भाव मौजूद तो हैं किन्तु इकट्ठे ही ये एक स्थान पर नहीं मिलते। वहाँ सत्य को उच्च स्थान प्राप्त नहीं। वह वहाँ दूसरे दर्जे पर रक्खा गया है। वहाँ पहला स्थान दिया गया है उपयोगिता को। सत्य का त्याग वहाँ प्रशंसा-योग्य समझा गया है। यहाँ तक कि एक विद्वान् लिखता है कि धर्म-प्रचार के नाते से यदि किसी पादरी को झूठ बोलना पड़े, तो वह बोल सकता है। ऐसी अवस्था में—जब सत्य को कुछ नीचा स्थान दिया गया तो वहाँ नास्तिकता के भाव होना कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं।

हमारी आयु में वृद्धि होगी

वेद ने शिक्षा दी है कि जिसने इन तीनों—सत्य, बल और बुद्धि—की प्राप्ति की है वह जल्दी नहीं मर सकता, वह सौ वर्ष तक अवश्य जीवन प्राप्त करेगा। किन्तु आज भारत की कैसी दशा है! यहाँ आयु का अनुपात केवल २२॥ वर्ष है। इसका कारण है कि उसने वेद की उक्त ऋचा पर कुछ अमल नहीं किया। यदि हम अमल करना आरम्भ कर दें तो हमारी आयु में वृद्धि होना आवश्यक हो। यदि हम १–निष्पाप हो जायें, २–निष्पाप होकर अपने विचारों का मनुष्य मात्र में प्रचार करें, ३–बुद्धि को पवित्र करें, तो अपनी आयु को बढ़ा कर अपने जीवन-उद्देश्य की पूर्ति करेंगे। हमारे जीवन

का उद्देश्य है—श्रेय और प्रेय दोनों को प्राप्त करना—इस लोक और परलोक की उन्नति करना।

इसलिए आइये, आज हम अपनी त्रुटियों पर विचार करें, उन्हें दूर कर दें और देश और समाज की उन्नति के रास्ते में जो त्रुटियाँ हैं, उन पर विचार करें। इसी से हमारी जाति की उन्नति और अपने उद्देश्य की पूर्ति होगी।

———

उदयन्तमस्तं यान्तमादित्यमभिध्यायन् ॥४॥

षडविंश ब्राह्मण प्र० ४ खं० ५ ॥

अर्थात्—इसलिये दिन रात के मेल के समयों में विद्वान् सन्ध्योपासना करे, उदय और अस्त होते हुए सूर्य्य की ओर ध्यान देकर अर्थात् प्रातःकाल पूर्व और सायंकाल पश्चिम की ओर मुँह करके सन्ध्या करे।

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाद्।
स शूद्रवत् बहिष्कार्यः सर्वस्मात् द्विजकर्मणः ॥

मनु० २। १०३ ॥

अर्थात्—जो प्रातःकाल की सन्ध्या न करे और जो सायंकाल को भी न करे वह सम्पूर्ण द्विजों के कर्म से बहिष्कार्य्य है।

सन्ध्या के समय की उपयोगिता

(सं) उत्तम प्रकार से (ध्यै) ध्यान करना, यह भाव है जो सन्ध्या शब्द से निकलता है।

सन्ध्या शब्द अपने भीतर किसी खास समय में नियत कर देनें का भाव नहीं रखता। जिस समय में भी उत्तम रीति से ईश्वर का ध्यान किया जा सके उसी का नाम सन्ध्या-काल है। इसका एक कारण है—और बड़ा महत्वपूर्ण कारण है—और वह कारण यह है कि सन्ध्या केवल भारतवर्ष के लिये ही नहीं, जहाँ १२-१२ घंटे के औसतन दिन रात हुआ करते हैं—बल्कि समस्त

भूमंडल के लिये है जिसमें ऐसे देश भी सम्मिलित हैं जहाँ कई दिन और कई मास के बराबर दिन और रात हुआ करते हैं। इसलिये सन्ध्या शब्द का अभिप्राय तो ऐसा है जो प्रत्येक देश और स्थान के लिये लागू हो सके। परन्तु भारतवर्ष के लिये, यहाँ की अवस्था और सूर्य्य के उदय अस्त के समयों पर विचार कर, ब्राह्मण और स्मृति-कारों ने प्रातः और सायं, दिन और रात के दोनों सन्धि-कालों को सन्ध्या के काल नियत किये हैं। इन कालों की बड़ी उपयोगिता यह है कि प्रत्येक सन्धिकाल में उससे पहले बीतने वाले दिन या रात का काम तो समाप्त हो जाता है, परन्तु उसके बाद आने वाले रात या दिन का प्रारम्भ नहीं होता। इसलिये यह समय वह होता है जिसमें न दिन के कामों की चिन्ता होती है न रात्रि के कार्य्यों की। ऐसा और इतना उपयोगी समय इन दो समयों के सिवा और कोई नहीं होता। मध्याह्न का समय तो अत्यन्त चिन्ता और थकावट का होता है। ऐसी चिन्तित और थकावट की अवस्था में कोई भी साधारण स्त्री-पुरुष ईश्वर का ध्यान नहीं कर सकते। वेद में जहाँ इस प्रकार के वाक्य आए हैं कि—

मम त्वा सूर उदते मम मध्यंदिने दिवः।
मम प्रपित्वे अपि शर्वरे वसवा स्तोमासो अवत्सत।

अर्थात्—"हे (वसो) ईश्वर (सूर उदिते) सूर्य्योदय

के समय (दिवः मध्यन्दिने) दिन के मध्य में (अपि शर्वरे) रात्रि में (अपित्वे) सायंकाल के समय (मम स्तोमासः) मेरे स्तोत्र (त्वा) तुझको (अवत्सत) मेरी ओर करें।" इस मन्त्र में दोनों, रात और दिन में ईश्वर के स्तोत्र या प्रशंसा के भजन गाने का विधान किया गया है। सन्ध्या से इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। अथवा जैसे यह मन्त्र है—

यद्द्य सूर्य उद्यति प्रियक्षत्रा ऋतं दध। यन्नि-म्रुचि प्रबुधि विश्ववेदसो यद्वा मध्यंदिने दिवः॥
ऋ० ८। २७। १९

अर्थात्—"हे (प्रियक्षत्राः) क्षत्रियो! (विश्ववेदसः) हे सर्वधन विद्वानो! (अद्य) अभी (यद्) या (सूर्ये+उद्यति) सूर्य के उदय होने पर (यद्) या (निम्रुचि) सूर्यास्त के समय (प्रबुधि) या प्रबोधकाल (दिवः मध्यन्दिने) या दिन के मध्य समय (ऋतं दध) आप सत्यता को धारण करें।"

इस मन्त्र में भी प्रत्येक समय मनुष्यों को (ऋत) तीनों काल में एक जैसी रहने वाली सचाई के धारण करने का विधान है। इसका भी सन्ध्या से कुछ सम्बन्ध नहीं है। ऐसे भी अनेक मन्त्र हैं जिनमें मनुष्यों को सायं प्रातः और मध्य दिन में मेधा (धारणावती) बुद्धि के धारण करने का उपदेश है। (देखो अथर्व० ६।८०।५ 'मेधां सायं मेधां

प्रातः) या जिनमें इसी प्रकार प्रत्येक समय श्रद्धा के धारण कराने का विधान है। देखो ऋग्वेद १०।१५१।५ (श्रद्धां प्रातर्हवामहे···) इनका भी सन्ध्या से कुछ सम्बन्ध नहीं है। मनुष्य को दिन-रात प्रत्येक समय ही अच्छे गुणों को ग्रहण करने के लिये यत्नवान् रहना चाहिये।

दूसरी आवश्यकता—मनुष्य को "अदीन" अर्थात् स्वतन्त्र होने की ज़रूरत है, जिससे वह स्वतन्त्रता के साथ सन्ध्या में वर्णित तीनों कर्त्तव्यों का पालन कर सके। कर्ता के लिये पाणिनि के "स्वतन्त्रः कर्ता" के आदेशानुसार स्वतन्त्र होना आवश्यक है। इसी लिये उपस्थान के चौथे मन्त्र ही में "अदीनाः स्याम शरदः शतम्" १०० वर्ष तक स्वतन्त्र रहने की भी ईश्वर से प्रार्थना की गई है।

तीसरी आवश्यकता—मनुष्य को इन कर्त्तव्य-त्रय के पालन करने के लिये जहाँ समय और स्वतन्त्रता की ज़रूरत है उसके साथ ही तीसरी ज़रूरत "बुद्धि" की है। बिना बुद्धि के मनुष्य कुछ नहीं कर सकता। इसलिए उपस्थान के पाँचवें (गायत्री) मन्त्र में ईश्वर से प्रार्थना की गई है कि मेधावी (प्रेरित की हुई) बुद्धि प्राप्त हो। इन तीनों साधनों के प्राप्त होने से मनुष्य अपने तीनों कर्त्तव्यों का समुचित रीति से पालन कर सकता है।

ईश्वर-उपासना

उपनिषदों में शिक्षा दी गई है कि यदि हम परमात्मा को प्राप्त करना चाहें तो केवल विद्या द्वारा नहीं प्राप्त कर सकते और ना ही बुद्धि तीव्र कर लेने अथवा उपदेश और सत्संग में जाने से प्राप्त कर सकते हैं।

अब देखना यह है कि मनुष्य की शक्ति के अन्दर की जो बात है वह तो है—वेद का स्वाध्याय और साधु समाज की संगति। यदि वह इन साधनों से प्राप्त होने वाला नहीं, तो कैसे प्राप्त होगा ? इस उलझन को उपनिषदें सुलझाती हैं। उनमें लिखा है—

"ईश्वर को वही प्राप्त करते हैं जिन्हें ईश्वर स्वयं पसन्द कर लेता है।" हाँ, तो परमात्मा भी किसी नियम, कायदे के अधीन होकर पसंद करता है या यूँही अन्धाधुन्ध ?—इसका उत्तर देना बाकी है।

ऋग्वेद में लिखा है कि प्रत्येक व्यक्ति को प्रभु की मित्रता करनी चाहिये। जैसे, एक बालक, जो भूख से व्याकुल है, अपनी निर्बल टाँगों का सहारा लेकर अपनी माँ के पास पहुँच जाता है। बस ! आगे उस की शक्ति से बाहर है कि वह इतना ऊँचा हो जाये कि माता के स्तनों तक पहुँच कर दूध पी सके। तब क्या होता है ? बालक के प्रेम से प्रभावित होकर माता के हृदय में

दया की उमंगें मौजें मारने लगती हैं, वह उसे गोदी में उठा लेती है और दूध पिलाकर उसकी भूख मिटा देती है। यही हाल परमात्मा की प्राप्ति का भी है।

मनुष्य को चाहिए कि प्राणपण से—जहाँ तक उसकी शक्ति उसे काम दे सकती है—प्रयत्न करे। तब इसका फल होगा—जगदम्बा रीझेगी। वह दया से द्रवीभूत होकर अपनी प्रेममयी गोद में ले लेगी और आनन्दरूपी दूध पिला कर उस की इच्छा पूर्ण करेगी।

किन्तु जब प्रयत्न में कुछ त्रुटि होगी तो उस जगन्माता की दया का प्राप्त होना भी असम्भव होगा। हमारा अभिप्राय यह है कि जहाँ तक मनुष्य से बन पड़ता है वह अपनी शक्ति से काम ले। इस से ईश्वर उसे स्वयं चुन लेंगे।

उपनिषद् में एक वचन आता है कि मनुष्य जब धर्म और कर्म—दोनों को काम में लाता है तब कर्म के द्वारा मृत्यु से पार होता है और ज्ञान के द्वारा अमृत को प्राप्त करता है। तो क्या मृत्यु के पार होने और अमृत को प्राप्त करने में कुछ अन्तर है?—नहीं। इसका अभिप्राय है कि मनुष्य को चाहिए कि वह ज्ञान और कर्म दोनों को साथ ले आये।

मनुष्य-शरीर, ज्ञान और कर्मेन्द्रियों का सामूहिक

रूप है। आत्मा के अधिकार में ज्ञान और प्रयत्न है। वेद कहता है कि जब कोई प्राणी ज्ञान और कर्म दोनों को उपलब्ध करता है तो उसका परिणाम मृत्यु से पार होना होता है। मोक्ष तो न ज्ञान से प्राप्त होता है, न कर्म से। वह दोनों के संयोग से प्राप्त हो सकता है।

मोक्ष पर विचार किया जाय तो उसके दो पहलू दीख पड़ते हैं। एक त्याग और दूसरा ग्रहण करना—अर्थात् मृत्यु के बन्धन काट देना और आनन्द प्राप्त करना। त्याग करना मनुष्य के अधिकार की बात है किन्तु प्राप्त करना उसकी शक्ति से बाहर है। आनन्द-प्राप्ति ज्ञान और कर्म का फल नहीं तो किस का फल है? इसमें ईश्वर की दया काम करती है। दया किस पर होती है? जिसने अपने आप को मृत्यु के बन्धन से मुक्त करने के योग्य बना लिया। आनन्द के दो प्रकार हैं—विषम और सम। जो आनन्द किसी के त्याग से मिलता है उसे शान्ति कहते हैं। जैसे, ज्वर आकर चला जाये तो शांति मिलती है। किन्तु ग्रहण से जो मिलता है उसका नाम आनन्द है, इसकी प्राप्ति ज्ञान और कर्म—दोनों के एक साथ ग्रहण करने से होती है।

निर्गुण और सगुण-उपासना

ईश्वर-उपासना के दो प्रकार हैं—एक निर्गुण

उपासना, दूसरा सगुण-उपासना। निर्गुण-उपासना वह है जो उन गुणों के चिन्तन करने से की जाये जो ईश्वर में नहीं हैं, और सगुण-उपासना उन गुणों के ध्यान करने से होती है जिनकी सत्ता ईश्वर में मौजूद है। निर्गुण-उपासना से मनुष्य मृत्यु से पार होता है और सगुण-उपासना से आनन्द को प्राप्त करता है।

लोग कहते हैं कि जब परमात्मा को हम देख नहीं सकते तो हम ध्यान किस का करें? यह उनकी भूल है। ध्यान किसी वस्तु का अन्दर की तरफ लाना नहीं बल्कि वह तो अन्दर से निकलना है। ध्यान मन को विषया-तीत—विषय से रहित—कर देने का नाम है। और मन के विषयातीत होने का नाम वह सुषुप्ति है जो जाग्रत अवस्था में होती है।

जप करो

ईश्वर-उपासना का आरम्भिक प्रकार उसका जप करना है। जप कहते हैं—वाणी से ओ३म् का जप करना, और मन से उसके अर्थों का चिन्तन करना। ऐसा करने से मन सङ्कल्प-विकल्प से बचा रहता है। तर्क परमात्मा तक नहीं पहुँच सकता।

उपनिषदों का रहस्य

मनुष्य शक्ति का केन्द्र है। शक्ति उसी के भीतर निहित है। इन्हीं शक्तियों के विकास का नाम शिक्षा है। मनुष्य-जीवन की सफलता का भेद यही शक्ति-विकास है। यही शक्ति विकसित होकर अभ्युदय और निश्रेयस, लोक और परलोक की सिद्धि का कारण बनती है। शक्ति-विकास के कार्य्य-क्रम ही का नाम अध्यात्म (योग) विद्या है। योग, कर्म में कुशलता का नाम है। जैसा कि गीता में कहा गया है—योगः कर्मसु कौशलम्—महामुनि पतञ्जलि ने भी योग को क्रिया (कर्म) योग ही कहा है और उसके केवल तीन विभाग किये हैं—'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः। (योगदर्शन २। ३) अर्थात् तप, स्वाध्याय और ईश्वर-भक्ति ही से योग की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। सुतरां क्रिया (कर्म) ही योग है। इस क्रिया को करने के लिये सबसे पहला साधन तप है। तप व्रतानुष्ठान को कहते हैं। व्रत नाम कर्त्तव्य का है। इस शक्ति के विकास के लिए जिस तप को करना, जिस व्रत का अनुष्ठान करना, या कर्त्तव्य का पालन करना है उसी का नाम कर्त्तव्य-दंचक है। अर्थात् क्रियात्मक जीवन बनाने के लिए जिस प्रकार के वातावरण के

उत्पन्न करने की ज़रूरत है वह इन पाँच कर्त्तव्यों के पालन करने से उत्पन्न होता है, जिसका नाम कर्त्तव्य-पंचक है। यह उपनिषदों की आदिम शिक्षा है। इन्हीं कर्त्तव्यों के पालन करने से किसी भी व्यक्ति को वह अधिकार प्राप्त हुआ करता है जिसका नाम अध्यात्म-विद्या में 'प्रवेशाधिकार' है। इसीलिए उपनिषदों की शिक्षा के वर्णन करने में पहला स्थान इन्हीं कर्त्तव्य-पंचक को दिया गया है।

पहिला कर्तव्य

पहली बात यह है कि मनुष्य उच्च प्रकार से आस्तिकता के भावों से अपने हृदय को भर लेवे। इसका साधन यह है कि मनुष्य ईश्वर को व्यक्ति-स्वरूप में न मानकर उसे विभु (व्यापक) रूप में माने—अर्थात् जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु आकाश में है और प्रत्येक वस्तु के भीतर भी आकाश है, इसी प्रकार से ईश्वर भी जगत् में ओत-प्रोत हो रहा है। कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो ईश्वर में न हो और जिसमें ईश्वर न हो। इस सिद्धान्त के आचरण में आने से मनुष्य का हृदय लचकीला हो जाता है। हृदय के लचकीला होने के लिए दो बातों की जरूरत होती है। प्रथम यह कि निष्पाप हो, दूसरे उसमें प्रेम की मात्रा अधिकता से हो। ये दोनों बातें ईश्वर को उपर्युक्त प्रकार से सर्वव्यापक मानने से मनुष्य में आया करती हैं।

मनुष्य पापाचरण के लिए सदैव एकान्त की खोज किया करता है। चोर इसीलिए रात्रि को अपनी सफलता का साधन समझता है क्योंकि उसमें उस प्रकार के एकान्त की अधिक सम्भावना होती है जो ऐसे दुष्ट कर्मों के लिए आवश्यक है। परन्तु ईश्वर का विश्वास होने पर पापाचरण के लिए एकान्त स्थान मिल ही नहीं सकता। एक उर्दू के कवि ने अपनी एक कविता में इसी भाव को इस प्रकार प्रकट किया है:—

'जाहिद शराब पीने दे मस्जिद में बैठकर।
या वह जगह बता जहाँ पर खुदा न हो॥'

अस्तु, जब तक मनुष्य के हृदय में नास्तिकता न आवे वह पाप नहीं कर सकता। इसीलिए ईश्वर के सर्वव्यापकत्व पर विश्वास होने ही से मनुष्य निष्पाप हो सकता है। दूसरी बात प्रेम है। मनुष्य ईश्वर को सर्वव्यापक मानने से विवश है कि प्रत्येक प्राणी में ईश्वर की सत्ता, उसके व्यापकत्व गुण से स्वीकार करे और जब इस प्रकार प्रत्येक प्राणी में—चाहे वह अछूत हो या कोई उससे भी निकृष्ट—ईश्वर का व्यापक होना मानेगा तब उससे घृणा किस प्रकार कर सकता है? घृणा का अभाव ही प्रेम का द्वार है। घृणा भी नास्तिकता से ही उत्पन्न होती है। जिससे कोई घृणा करेगा, अवश्य उसमें ईश्वर की सत्ता का अभाव मानेगा। इसी

का नाम नास्तिकता है। निष्कर्ष यह है कि निष्पापता और प्रेम से मनुष्यों के हृदयों में लचकीलापन (कठोरता का अभाव) आया करता है। और इन दोनों साधनों की प्राप्ति ईश्वर के व्यापकत्व पर विश्वास होने से हुआ करती है। उपनिषद् ने इस शिक्षा को अपने शब्दों में इस प्रकार प्रकट किया है:—"ईशा वास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।"

दूसरा कर्त्तव्य

दूसरा कर्त्तव्य उपनिषदों के संक्षिप्त तीन शब्दों में वर्णन किया है, वे शब्द ये हैं:— 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:, अर्थात् उस (ईश्वर) के दिये हुए में से माँग कर उपनिषदों ने प्रत्येक प्रकार के भोग की आज्ञा दी है। मनुष्य विवाह करके सन्तान उत्पन्न करे; शक्ति प्राप्त करके राज्य प्राप्त करे और उसका उपभोग करे। कृषि, व्यापार तथा अन्य कला-कौशलादि से धन प्राप्त करके उनका उपभोग करे, इत्यादि। उपनिषद् इन सबको विहित बतलाती है, परन्तु एक शर्त इन सब के भोग के साथ लगाती है और वह यह है कि वह इन भोग-पदार्थों को ईश्वर का समझ कर भोग करे। ऐसे विश्वास से मनुष्य प्रत्येक पदार्थ—राज्य धनादि—को ईश्वर का समझकर उनमें केवल अपना प्रयोगाधिकार समझेगा और

ममत्व न जोड़ सकेगा कि अमुक पदार्थ मेरा है। संसार के समस्त दुःखों का मूल ममता है। दुःख प्रायः किसी न किसी वस्तु के पृथक् होने से हुआ करते हैं। परन्तु जब उन्हीं वस्तुओं को मनुष्य स्वयं छोड़ देता है तब दुःख नहीं, अपितु सुख हुआ करता है। प्राणी में जब तक ममता का प्राबल्य रहता है वह किसी वस्तु को छोड़ना नहीं चाहता, परन्तु जब उन वस्तुओं में वह अपना केवल प्रयोगाधिकार ही समझता है तब प्रयोग का समय समाप्त होने पर स्वयं उन्हें छोड़ दिया करता है। वस्तुओं के छीनने वाले चोर, डकैत, राजे-महाराजे हुआ ही करते हैं, परन्तु एक बड़ी प्रबल शक्ति जो गिनकर एक २ वस्तु प्राणियों से ले लिया करती है और कुछ भी नहीं छोड़ा करती, उस शक्ति का नाम मृत्यु है। मृत्यु आकर पदार्थों को छीनती है, परन्तु ममता का वशीभूत प्राणी उन्हें देता नहीं। आत्मा की इसी कलह का नाम मृत्यु-संवेदना (मरने का दुःख) है। मृत्यु वास्तव में दुःखप्रद नहीं किन्तु सुखमय है, परन्तु मरने के समय ये सब दुःख मनुष्यों को ममता के वश होकर उठाने पड़ते हैं। जो मनुष्य सांसारिक भोग्य पदार्थों में अपना केवल प्रयोगाधिकार समझता है, वह उन्हें प्रयोग का समय (जीवन-काल=आयु) समाप्त होने पर छोड़ देता है और फिर उसके पास कुछ रहता ही नहीं जिसे मृत्यु आकर अप-

हरण करे। इसलिए उसके लिए मृत्यु का समय दुःख का समय नहीं, अपितु सुख और शान्ति के साथ संसार छोड़ने का समय होता है, जिसमें उसे न केवल आशा बल्कि विश्वास होता है कि वह यह यात्रा चिरकालीन सुख और शान्ति की प्राप्ति के लिये कर रहा है; और ऐसे व्यक्ति मृत्यु से डरते नहीं अपितु मृत्यु का स्वागत करते हैं और प्रसन्न और हँसते-हँसते संसार को छोड़ा करते हैं। सारांश यह है कि इस दूसरे कर्त्तव्य के पालन करने से मनुष्य मृत्यु के भय से स्वतन्त्र होता है। किन्हीं २ पुरुषों को ऐसा भ्रम है या हो जाता है कि यदि मनुष्य सांसारिक पदार्थों—राज्यादि—में ममता न जोड़ें तो फिर उनकी रक्षा न कर सकेंगे। परन्तु यह उनकी भूल है। मनुष्य उन वस्तुओं की भी वैसी ही रक्षा किया करता है जो प्रयोग के लिए मिली हों—जैसी उनकी करता है जिनमें उसने मेरेपन का नाता जोड़ा हुआ है। इसलिए लोक-दृष्टि से भी यह नियम वैसा ही उपयोगी है जैसा परलोक-दृष्टि से। मनुष्य मृत्यु के भय से स्वतन्त्र होकर संसार में कौन-सा बड़े से बड़ा काम है जिसे नहीं कर सकता।

तीसरा कर्तव्य

बिना शान्ति का वातावरण उत्पन्न किए संसार का कोई भी काम पूरा नहीं होता, फिर अध्यात्म-विद्या

का तो कहना ही क्या। उसे तो कोई अशान्ति में या अशान्त-चित्त होकर प्राप्त ही नहीं कर सकता। अशान्ति का मूलकारण किसी व्यक्ति या जाति का स्वत्वापहरण ही हुआ करता है।

दुनिया में भिन्न २ जातियों में जितने भी युद्ध हुआ करते हैं उनका मुख्य कारण यही होता है कि किसी जाति का स्वत्व छीना गया या उसकी स्वतन्त्रता में बाधा पहुँचाई गई हो। यही कारण प्रत्येक व्यक्ति के झगड़ों की तह में छिपा हुआ मिलता है, इसलिए 'कारणाभावात्कार्याभावः' के नियमानुसार उपनिषदों में तीसरा कर्तव्य यह ठहराया गया है कि 'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' अर्थात् किसी का धन या स्वत्व लेने की चेष्टा मत करो। न किसी का धन लिया जावेगा, न किसी का स्वत्व छीना जायगा, न किसी की स्वतन्त्रता में बाधा पहुँचाई जायगी, न उनकी सन्तति अशान्ति का जन्म होगा।

चौथा कर्तव्य

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

अर्थात् कर्म करते हुए ही मनुष्य १०० वर्ष तक जीने की इच्छा करे। परन्तु शर्त यह है कि कर्म इस प्रकार से करने चाहियें कि वे करने वाले को लिप्त न करें।

अर्थात् मनुष्य उनमें फंस न जाय। उपनिषदों ने खुले शब्दों में यह भी कह दिया है कि मनुष्य को जीवित रहने के लिये इस (कर्मयोग) के सिवा कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

यह कर्तव्य दो भागों में विभक्त है—

(१) मनुष्य को निरन्तर कर्म करने का अभ्यास करना चाहिये, (२) वे कर्म, कर्ता को फँसाने वाले न हों।

पहिले भाग पर दृष्टिपात करने से प्रकट होता है कि कर्म सृष्टि का सार्वतन्त्रिक नियम है। जगत् में कोई वस्तु ऐसी दिखाई नहीं देती कि जो क्रिया-रहित हो। सृष्टि का महान् से महान् कार्य—सूर्य—प्रतिक्षण गति में रहता है। पृथ्वी गतिमय है, चन्द्रमा चलता है—यदि छोटी से छोटी वस्तु एक कण (Atom) को लेवें और देखें तो एक बड़ा चमत्कार दिखाई देता है। उस कण के भीतर केन्द्र है और उसके चारों ओर असंख्य विद्युत्कण (Electrons) उसी प्रकार घूमते दिखाई देते हैं जिस प्रकार अनेक ग्रह-उपग्रह सूर्य के चारों ओर घूमते हैं। इस प्रकार ब्रह्माण्ड का एक एक कण भी सूर्य-मण्डल (Solar system) का संक्षिप्त रूप है। क्या वह कण, जिसके भीतर इतना कार्य हो रहा है, ठहरा हुआ या निष्क्रिय है? विज्ञान का उत्तर यह है कि कदापि नहीं। यह पुस्तक, जो सामने मेज़

पर रक्खी है, क्या ठहरी है? कदापि नहीं। पुस्तक के पृष्ठ जिन कणों से बने हैं उनमें से प्रत्येक कण में कम्पन (Vibration) पाया जाता है, यदि कम्पन न हो तो कोई वस्तु, वस्तु-स्वरूप में बाकी न रहे। इससे स्पष्ट है कि जगत् की छोटी से छोटी वस्तु कण है जिसके भीतर गति हो रही है और जो स्वयं भी सूर्य-मण्डल की तरह गति में है। जब कर्म का साम्राज्य जगत-व्यापी है तो मनुष्य उससे किस प्रकार बच सकता था। इसीलिए मनुष्य को भी कर्मनिष्ठ होना चाहिए। उपनिषद् का उपर्युक्त वाक्य जीवन की अन्तिम घड़ी तक कर्म करने का विधायक है। अवश्य संन्यास, कर्म के त्याग को कहते हैं, परन्तु कर्म से प्रयोजन काम्य (सकाम) कर्म, यज्ञादि से है और उन्हीं का त्याग संन्यास है।

कर्त्तव्य का दूसरा भाग यह है कि मनुष्य कर्म में लिप्त न हो। कर्त्तव्य के इस भाग को समझने के लिए आवश्यक है कि समझ लिया जावे कि कर्म दो प्रकार के हैं—(१) सकाम (२) निष्काम। सकाम कर्म, फल की इच्छा रख कर काम करने का नाम है, जब कि निष्काम कर्म, फल की इच्छा त्याग, धर्म या कर्त्तव्य समझ कर कर्म करने को कहते हैं। इन दोनों में अन्तर यह है कि सकाम कर्म से वह वासना उत्पन्न होती है जो फिर उसी प्रकार के कर्म की प्रेरणा करती है। योगदर्शन का भाष्य

करते हुए व्यास मुनि ने जिस संसार-चक्र की बात कही है, वह चक्र छः अरे वाला है। वे अरे यह हैं, मनुष्य इच्छा करता है, उसका फल उसे सुख मिलता है, उससे सुख की वासना बनती है वह फिर उसी प्रकार की इच्छा करती है, उससे फिर सुख और फिर वही वासना और उससे फिर वही इच्छा—इस प्रकार (१) इच्छा (२) उसका फल सुख (३) सुख की वासना, ये चक्र के तीन अरे हैं जो बराबर उपर्युक्त की भांति घूमा करते हैं। बाकी तीन अरे हैं (१) द्वेष (२) उसका फल दुःख (३) दुःख की वासना। ये भी पहले तीन अरों की भांति घूमा करते हैं। यही छः अरों वाला (संसार) चक्र है जो संसारी पुरुषों को चक्र में रखता है। इसी चक्र में रहने का नाम कर्म में मनुष्य का या कर्म का मनुष्य में लिप्त होना है। उपनिषद् मनुष्यों का कर्त्तव्य ठहराती है, कि कर्म करते हुए भी इस चक्र में न फँसे। फँसे हुए प्राणी इस चक्र से किस प्रकार निकल सकते हैं इसका उपाय और एकमात्र उपाय सकामता का निष्कामता में परिवर्तन करना है। इस परिवर्तन से प्रभावित मनुष्य निष्काम कर्म करके वासनाओं का नाश करता है। उनके न रहने से सुख दुःख से भी पृथक् हो जाता है और सुख दुःख के न रहने से उनकी वासनाएं भी नहीं बन सकतीं। इस प्रकार चक्र के छः अरे निकम्मे होकर चक्र टूट जाता है और मनुष्य उससे निकल आता है।

यही चौथा कर्त्तव्य है, जिसके पालन किए बिना कोई व्यक्ति अध्यात्म-जगत् में प्रवेश का अधिकारी नहीं बन सकता।

पाँचवाँ कर्त्तव्य

उपनिषद् के इस वाक्य में पाँचवें कर्त्तव्य का विधान किया गया है—

> असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽवृत:।
> तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना:॥

अर्थात् आत्म-हनन (आत्मा से विपरीत काम) करने वाले मनुष्य प्रकाश-रहित और तम से आच्छादित योनियों को प्राप्त होते हैं—

मन्त्र में आत्म-हनन अर्थात् आत्मा के प्रतिकूल कार्य को निषिद्ध ठहराया है। आत्मा के प्रतिकूल कार्य नहीं करना चाहिए—इस पर विचार करना है। आत्मा स्वरूप से शुद्ध और पवित्र है, किसी प्रकार के ईर्ष्या द्वेषादि दोषों से लिप्त नहीं। इसलिए आत्म-प्रेरणा भी, जिसको अन्त:करण (Conscience) के अनुकूल कार्य करना कहते हैं, इन दोषों से मुक्त होती है। इसीलिये धर्म-शास्त्रानुसार मनु ने भी इसी आत्म-प्रेरणा को 'स्वस्य च प्रियमात्मन:" कह कर धर्म का अन्तिम साधन बतलाया है।

चरित्र-नियन्त्रण करने का मुख्य साधन भी यही आत्म-प्रेरणा है। चरित्रवान् हुए बिना मनुष्य अध्यात्म-

जगत् में प्रवेश नहीं कर सकता। इसीलिए उपनिषद् में इस बात का विचार करते हुए कि कौन-कौन मनुष्य आत्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते, उनकी गणना में सब से पहिला नाम चरित्रहीनों का लिया है—"नाविरतो दुश्चरितान्नशान्तो ना समाहितः" (उपनिषद् १।२।२४) आत्मप्रेरणा से किस प्रकार चरित्र निर्मित होता है इसके लिए किसी बड़ी व्याख्या की ज़रूरत नहीं। चरित्र को ही सदभ्यास भी कहते हैं। अभ्यास एक ही कर्त्तव्य को अनेक बार कार्य में परिणत करने से बना करता है। मनुष्य जब कोई अच्छा या बुरा काम करना चाहता है, तो अच्छे काम करने में आत्मप्रेरणा से उसको उत्साह और प्रसन्नता उत्पन्न होती है, परन्तु जब बुरा काम करने का विचार करता है तो उसके सम्मुख भीतर से भय, लज्जा और शंका के रूप में अनुत्साह और अप्रसन्नता उत्पन्न होती है। पहली सूरत में किसी अच्छे कर्म को अनेक बार करके प्राणी उसके करने का अभ्यास (आदत) बना लेता है और फिर उस काम को वह इच्छा से नहीं किन्तु अभ्यास-वश किया करता है। इसी का नाम सदभ्यास या चरित्र है। इसी प्रकार जब कुसंगति में पड़ कर कुसंगदोष से आत्म-प्रेरणा के विरुद्ध मनुष्य कोई बुरा काम अनेक बार कर लेता है, तो उससे असदभ्यास बनता है और इससे वह उस बुराई को बिना

इच्छा के, और किन्हीं सूरतों में इच्छा के विरुद्ध भी, अभ्यास-वश करने लगता है। कल्पना करो कि एक मनुष्य ने अफीम खाने का बुरा अभ्यास बना लिया है। अब, जब दूसरे पुरुष उसको इस दुष्कर्म की दुष्कर्मता को बतलाते हैं तो वह उन्हें स्वीकार कर लेता है, परन्तु जब कहते हैं कि फिर इसे छोड़ क्यों नहीं देते, तब वह अपनी विवशता प्रकट करते हुए कह देता है कि 'क्या करूँ, आदत से लाचार हूँ।'

इस प्रकार विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि आत्म-प्रेरणा से सदभ्यास या चरित्र बना करता है, और उसके विरुद्ध आचरण करने से असदभ्यास या दुश्चरित्र। हमने देख लिया कि आत्मा के अनुकूल कार्य करके ही हम चरित्र-निर्माण करते हुए अध्यात्म-जगत् में विशेषाधिकार प्राप्त कर सकते हैं। पश्चिमी विचारकों ने भी उपनिषद् की इस सचाई के सामने सिर झुकाया है। इंग्लैंड के प्रसिद्ध विद्वान् 'माटले' ने एक पुस्तक लिखी है जिसका नाम 'राज़ीनामा' (Compromise.) है इसमें इस बात पर विचार किया गया है कि किन सूरतों में राज़ीनामा हो सकता है। उसने सम्मति के तीन दर्जे किए हैं:—

(१) सम्मति का स्थिर करना (Formation of opinoin.)

(२) सम्मति का प्रकट करना (Expression of opinion)

(३) सम्मति का कार्य्य में परिणत करना (Execution of opinion.)

इस प्रकार से सम्मति के ३ दर्जे करते हुए 'माटले' लिखता है कि कुछ थोड़ा-सा राज़ीनामा नं० २ सम्मति के प्रकट करने में हो सकता है और वह केवल इतना कि जिस सम्मति के प्रकट करने से दुष्परिणामों के निकलने की सम्भावना है उस सम्मति को प्रकट न किया जावे। यह बड़ी बात है जिसे मनु ने 'न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्' के द्वारा प्रकट किया है। माटले की सम्मति में पूरा २ राज़ीनामा नं० ३ सम्मति के कार्य में लाने से हो सकता है—अर्थात् अल्प-पक्ष की सम्मति की उपेक्षा करके बहु पक्ष के मतानुकूल कार्य किया जावे। परन्तु उसकी यह स्थिर सम्मति है कि नं० १ अर्थात् सम्मति के स्थिर करने में किसी दशा में भी कोई राज़ीनामा नहीं हो सकता। सम्मति का स्थिर करना क्या है? आत्म-प्रेरणानुकूल किसी विचार का स्थिर करना। अतः यह प्रकट है कि माटले साहिब भी आत्मप्रेरणा के विरुद्धाचरण का विधान नहीं करते हैं। कर्त्तव्य-पंचक में से पाँचवाँ कर्त्तव्य है "आत्मा के अनुकूल कार्य करना।" इस प्रकार उपनिषदों ने आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिए सब

से पहली बात यही बतलाई है कि मनुष्य इन पाँचों कर्त्तव्यों को समझ कर इन पर आचरण करे।

वे पांचों कर्त्तव्य यह हैं:—

(१) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ईश्वर का व्यापकत्व।

(२) जगत् के भोग्य पदार्थों में ममता को न जोड़ कर उनमें केवल अपना प्रयोगाधिकार समझना।

(३) किसी की वस्तु या स्वत्व का अपहरण न करना।

(४) सदैव कर्म करना और निष्कामता को लक्ष्य में रख कर उन्हें धर्म या कर्त्तव्य समझ कर करना।

(५) आत्मा के अनुकूल मन, वाणी और शरीर से आचरण करना।

परोपकार का जीवन

संसार में मनुष्य सुखी और दुखी जो हुआ करता है इसके दो कारण हैं। एक है—मनुष्य अपने कर्म के फल से सुखी भी होता है और दुखी भी। अच्छे कर्म से सुख और बुरे कर्म से दुःख मिलता है। दूसरा कारण है—अन्य मनुष्यों के कर्म। किसी आदमी ने धन एकत्र करके रक्खा है, चोर उसे चुरा ले जाता है, उससे जो उसके परिवार को दुःख हुआ, वह चोर के कर्म से। प्यासे को एक आदमी पानी पिलाता है, वह सुखी हो जाता है; यह सुख उसे कैसे मिला ? पानी पिलाने वाले के कर्म से। कर्म विज्ञान के इस सिद्धान्त के आधार पर व्यक्ति और समाज-शास्त्र बनाया गया है। मनुष्य का कर्म केवल अपने को ही अच्छा बनाना नहीं। उसका कर्त्तव्य यह भी है कि वह अपने समाज को भी अच्छा बनाए। यदि समाज अच्छा होगा तो उसके कर्मों से भी उसे सुख प्राप्त होगा। आर्यसमाज के नौवें नियम में बतलाया गया है कि "मनुष्य को अपनी उन्नति में ही सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए बल्कि उसे सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।" जब मनुष्य समाज को अच्छा बना देता है तो वह बहुत सी बुराइयों से बच जाता है जिससे वह वैसे नहीं बच सकता था। तुम्हें

आवश्यकता है—देश की रक्षा की। तुम उसे अकेले नहीं कर सकते। समाज को रक्षा करने वाला बना लो। तो उसकी रक्षा हो जायगी।

समाज के द्वारा मनुष्य बहुत-सी बुराइयों से बच जाया करते हैं। मतलब यह है कि कर्म को समझने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह पहले कर्म के सिद्धान्त को समझे। उसका केवल अपना व्यक्तित्व ही नहीं बल्कि उसका समाज भी अच्छा होना चाहिए। व्यक्ति और समाज कैसे अच्छे बनते हैं? किसी व्यक्ति को अच्छा बनाने के लिए उसकी त्रुटियों को दूर करना चाहिए और यह जनता की श्रेष्ठता पर अवलम्बित है। सन्ध्या में आप हर रोज़ प्रार्थना करते हैं—

"ईश्वर हमारी इच्छा पूर्ण करे और हमारे चारों ओर सुख की वर्षा हो"—मनुष्य का जीवनोद्देश्य यह है कि जब संसार से विदा हो तो हर्ष की मात्रा में इज़ाफ़ा करले। यदि इस सिद्धान्त को समझ लिया तो मनुष्य का मन, आत्मा और वाणी सभी सुधर सकते हैं।

समाज पर भी यही सिद्धान्त लागू हो सकता है। उसके अन्दर जो यदा-कदा त्रुटियाँ आ जाती हैं वे सब इसी सिद्धान्त द्वारा दूर हो सकती हैं। समुद्र-यात्रा पाप समझा जाता है। पहले कभी यह बात थी कि ज़ो कोई

समुद्र-यात्रा करके आता उसे कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता। किन्तु आज यह कुप्रथा बहुत हद तक दूर हो चुकी है।

जापान में भी यह प्रथा थी कि कोई आदमी समुद्र पार जाए तो वापिसी पर उसे बिरादरी से खारिज करना तो दूर रहा, उसे प्राण-दण्ड भुगतना पड़ता था। उसका फल यह हुआ कि चीन और अमेरिका के लोगों ने उन पर कई आक्रमण कर उन्हें विजित किया। तब जापानियों की आँखें खुलीं और सूझा कि यदि यह प्रथा जारी रही तो ये चीनी और अमेरिकन जब चाहेंगे हमें गुलाम बना लेंगे। इस विचार के फलस्वरूप एक जापानी विचारक ने लोकमत लेकर इस प्रथा को दूर करा दिया। आज यह हालत है जापान संसार की भारी शक्तियों में गिना जाता है।

व्यक्तिगत और सामाजिक त्रुटियों को दूर करना चाहिए। सनातनधर्म किसे कहते हैं? १९११ ई० की मनुष्य-गणना में उनकी संख्या ८—९ हज़ार बताई जाती है। मनुष्य-गणना के प्रमुख कर्मचारी ने लिखा कि सनातनधर्म का कोई अपना एक सिद्धान्त नहीं जिसमें उसके मानने वाले सभी सहमत हों। हाँ; एक सिद्धान्त है जिसमें वे सभी सहमत हैं। वह है—आर्यसमाज का विरोध करना।

ऐसे सनातनधर्मी आज भी सुधार की बात का विरोध करने के लिए तय्यार हैं। एक आदमी ने कहा कि, हिन्दुओं को गणित में केवल बाक़ी निकालना और भाग देना ही याद रह गया है, किन्तु योग और गुणन की बात भूल गई। "अर्थात् घटाना तो सीख गए किन्तु बढ़ाना याद नहीं रहा।" यह इसलिए कहा गया, कि समाज आज बहुत पिछड़ी अवस्था में है।

व्यक्ति की तरह समाज को भी रोगों से रहित होना चाहिए। इससे वह अपने व्यक्तियों को भी जीवित कर सकता है। एक विद्वान् ने लिखा है—संसार में सब से आवश्यक वस्तु किसी जाति के व्यक्ति हुआ करते हैं। यदि वे अच्छे हों तो सोने और चांदी के ढेरों को जमा कर लेंगे। यदि वे ही बुरे हुए तो जमा किया हुआ सोना-चाँदी भी खो बैठेंगे। भारत में सोना इतना था कि उसकी खोज में योरप के कई व्यक्ति घर से बाहर निकले और वे भारी परिमाण में उसे अपने साथ ले गये। क्यों? इसलिए कि हम उसकी रक्षा न कर सके। केनाडा में योरपवालों ने इतना पुरुषार्थ किया है कि वहाँ दुर्भिक्ष कभी पड़ ही नहीं सकता। यह क्यों? इसलिये कि वहाँ के आदमी अच्छे हैं। उन्होंने वहाँ सोना-चाँदी इतने परिमाण में इकट्ठा कर लिया है कि देखकर अक़्ल हैरान होती है। मैंने आप के सामने एक सिद्धान्त रक्खा है। यदि मनुष्य चाहता

है कि वह संसार में सुख का जीवन व्यतीत करे तो उसे चाहिए कि वह अपने व्यक्तित्व को अच्छा बना ले, और साथ ही अपने समाज को भी अच्छा बनाए।

जब मनुष्य अच्छा बनता है तो संसार के सुख के आँकड़ों में वृद्धि करता है। बस, आप को इस बात का खूब मनन करना चाहिए कि सुख उसी अवस्था में मिल सकता है जब व्यक्ति भी अच्छा हो और साथ ही समाज भी।

वैदिकधर्म आशा का धर्म है !

वैदिकधर्म की शिक्षा यह है, कि सारे कर्म "जिन से मनुष्य की आन्तरिक तथा बाह्य, व्यक्तिगत और सामाजिक स्वतन्त्रता में कमी आए या उसका सर्वथा नाश हो" पाप है। और इसके विरुद्ध स्वतन्त्रता को लाने और उसको सुरक्षित रखने या बढ़ाने वाले कर्म पुण्य हैं। विचार कीजिये कि एक मनुष्य को देखने के विषय ने अपने अधीन बना रक्खा है, उसके नेत्र उसे जहाँ चाहें वहाँ लिए फिरते हैं। अभी सुना कि अमुक स्थान पर बहुत-सी देखने के योग्य चीज़ें इकट्ठी की गई हैं। आँखों ने कहा कि चलो उस स्थान पर। वह मनुष्य एक क्रीत दास की भान्ति विवश है। वह वहाँ जाता और सुनता है कि एक और स्थान पर वेश्याओं का गाना हो रहा है और अनेक रूपवती वेश्यायें वहाँ जमा हैं, यह सुनते ही आँखों में उनके देखने की कामना पैदा हो उठती है और वह उस महफ़िल में जाने के लिये विवश हो जाता है। इस प्रकार देखने का विषय मनुष्य की स्वतन्त्रता को छीन कर उस पर शासन करता है और वह कठपुतली की तरह इन विषय के इशारों पर नाचता है। देखने वाले उस की इस दुरवस्था को देखकर उसे समझाते हैं और लज्जित करते हैं। एवं अपने आप को

समझाने की शिक्षा देते हैं, परन्तु उस मनुष्य की विषय वासनायें इतनी बढ़ गई हैं कि वह अपना सुधार करने में असमर्थ-सा हो जाता है।

न्यायकारी और दयालु प्रभु ने देखा कि उस आदमी ने अपनी ज्योति का, जो उसे दी गई थी, दुरुपयोग किया। और न केवल आँखों को ही बेकार बना लिया बल्कि उन के द्वारा अपने आपको भी पतित किया। तब वह अपनी दी हुई ज्योति को छीन लेता है। अब वह पापी पुरुष पुनर्जन्म की मर्यादानुसार ऐसी योनि में भेजा जाता है, जो नयन-ज्योति से वंचित होती है। जैसे अन्धे स्त्री-पुरुष। अब उसमें देखने की शक्ति नहीं रहती।

"कर्म करने से जिस प्रकार कर्म का अभ्यास होता है, उसी प्रकार न करने से न करने का।" अब इस पापी के मस्तिष्क में नेत्रेन्द्रिय तो है परंतु निकम्मी मिलने से काम नहीं दे सकती। पहले उस के देखने की शक्ति में जो बुरी आदत पैदा हो गई थी, वह देखने का प्रलोभन और अभ्यास अब उसके बेकार रहने से छूटने लगता है। जब वह बुरा अभ्यास छूटकर देखने की शक्ति पहले की तरह साफ हो जाती है तब वह पापी निष्पाप होकर फिर आँखों वाला बन जाता (पैदा होता) है।

इसी प्रकार मनुष्य जब २ जिस जिस इन्द्रिय से पाप करता है, उस उस इन्द्रिय का उपर्युक्त नियमानसार

पुनर्जन्म द्वारा सुधार हुआ करता है। जब कोई बुरा आदमी एक से अधिक ही इन्द्रियों को पापी बना लेता है तब उस की एक से अधिक ही इन्द्रियाँ छिन जाया करती हैं। जब कोई मूर्ख आदमी अपनी सारी इन्द्रियों को पापी बना लेता है तब उस की समग्र इन्द्रियाँ छिन जाती हैं, और वह एक-घटक-जन्तुओं अथवा जङ्गम और स्थावर आदि जड़ योनियों में भेजा जाता है, जहाँ उसकी सारी इन्द्रियों का सुधार होकर वह फिर मनुष्य-योनि में आता है। जैसे कैदी कैद की अवधि को समाप्त करके जेलखाने से छूट कर अपनी खोई स्वतन्त्रता को प्राप्त कर लेता है, इसी प्रकार वह प्राणी उस मनुष्य-योनि में अच्छे कर्म करने के लिए स्वतन्त्रता प्राप्त करता है। यदि वह चाहे तो अच्छे कर्म करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है। परन्तु यदि उसने फिर अपने आपको पतित किया, तो फिर उसका उपर्युक्त नियम से सुधार होगा, और वह सुधार-कार्य उस समय तक प्रचलित रहेगा जब तक वह जीवन के अन्तिम आदर्श (पूर्ण-स्वतन्त्रता रूपी मोक्ष) की प्राप्ति नहीं कर लेता। इससे स्पष्ट हो गया कि किस प्रकार वैदिक-धर्म में मनुष्य का सुधार हो जाया करता है। इसलिए इसे "आशा का धर्म" कहते हैं।

जिन मतों में किसी अन्य स्वर्ग और नरक की

कल्पना की गई है और पुनर्जन्म नहीं माना जाता है, उनमें से एक प्राणी ने यदि अपने केवल एक जन्म में बुरे कर्म कर लिए तो वह सर्वदा के लिए नरक में ठूँस दिया गया। अब उसके लिये सिवाय इसके कि वह अनन्तकाल तक नरक के दुःख भोगे, और कोई उपाय बाकी नहीं रह जाता। इसलिए इस अनन्तकाल की यातना और निराशावाद से बचने के लिये आवश्यक है कि प्रत्येक नर-नारी आशा से परिपूर्ण वैदिकधर्म को स्वीकार करे, और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को इस आशा का मूल समझकर अपनावे।

दिन सफलता प्राप्त होगी। जीवन को संग्राम कहते हैं। संग्राम से भागने वाला कायर होता है। परन्तु संग्राम में सफलता के साथ निरन्तर यत्न करने वाले पुरुष वीर कहलाते हैं। यह वीरता आर्यजाति की सम्पत्ति होते हुए भी दुर्भाग्य से इस समय आर्यजाति में दिखाई नहीं देती। यही कारण आर्यजाति के पतन का है और जब तक यह बना रहेगा 'कारणाभावात्कार्याभावः' के नियमानुसार आर्यजाति की पतित अवस्था भी दूर नहीं हो सकती। आर्यसमाज, जिसको ऋषि दयानन्द—आर्यसमाज के संस्थापक—ने आर्यजाति को इस पतितावस्था से उठाने के लिये स्थापित किया था, स्वयमेव उसी रोग से ग्रस्त हो चला है।

ऋषि दयानन्द का जीवन सफलता का जीवन था। उनका जीवन-चरित्र पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि इस सफलता की तह में मुख्य तीन साधन निहित थे। उन साधनों की स्मृति ताज़ा करने और विशेष रीति से उन की ओर जनता का ध्यान दिलाने के उद्देश्य ही से ये पंक्तियाँ लिखी जाती हैं। वे साधन ये थे—

(१) विरोध को प्रसन्नता के साथ सहन करना (२) असफलता से न डरना (३) दृढ़ता और धैर्य्य के साथ अपना उद्योग जारी रखना। ये ही सुनहरी

नियम थे जिन्होंने ऋषि दयानन्द के जीवन को चार चाँद लगा रक्खे थे।

विरोध को प्रसन्नता से सहना

विरोध के सहने के साथ ही स्वामी दयानन्द का जीवन शुरू होता है। अभी जब कि वे दयानन्द नहीं बने थे और मातृ-परिवार में रहते हुए मूलजी दयाराम ही थे, तभी से उनको पिता का विरोध सहना पड़ा। कार्यक्षेत्र में आने पर तो मानो विरोध का पहाड़ ही टूट पड़ा; ईंट पत्थरों की भरमार, लाठी और तलवारों के हमले, गाली-गलौच, विष देना आदि अनेक क्रूर कर्म थे जिनके करने में विरोधियों ने ज़रा भी संकोच नहीं किया था। परन्तु उन्होंने कितनी वीरता के साथ इनको सहन किया! कितनी प्रसन्नता के साथ अपने चित्त पर ज़रा भी मैल नहीं आने दिया!! इसका उदाहरण ढूँढने से भी इतिहास में नहीं मिलता। उन्होंने इन क्रूर कर्म-कारियों से जितनी उदारता का व्यवहार किया वह भी अनुदाहरणीय ही था। एक विष के देने वाले को यह कह कर छुड़ा देना कि "मैं दुनियां को कैद कराने नहीं अपितु कैद से छुड़ाने आया हूँ" दूसरे विष देने वाले को स्वयं कुछ धन देकर कहना कि "भाग जाओ अन्यथा पकड़े जाओगे" यह ऐसी बातें हैं जिसकी

वर्तमान परिस्थिति और प्रचलित सभ्यता प्रवाह में, क्रियात्मक जगत् के लिए कल्पना भी नहीं की जा सकती।

असफलता से न डरना

स्वामी दयानन्द के जीवन में असफलता के कम अवसर आए हैं, परन्तु जब भी आए, उनका कोई प्रभाव उनके पुरुषार्थमय जीवन पर नहीं पड़ा। असफलता के कुछेक उदाहरण ये हैं (१) गोवध बन्द न हो सकना (२) वेद-भाष्य का संस्कृत की परीक्षाओं में सम्मिलित न हो सकना आदि। इन असफलताओं के होने पर भी उन्होंने गोवध के विरुद्ध आन्दोलन बराबर जारी रक्खा। वेद-भाष्य का काम भी अन्त तक जारी ही रहा। वे इस सचाई को खूब समझते थे कि असफलता के अर्थ हैं—पुरुषार्थ की पूर्णता और परिस्थितियों की अनुकूलता में कमी का होना, इसलिए असफलता का आवश्यक फल पुरुषार्थ में वृद्धि होनी चाहिए न कि उसका त्याग।

दृढ़ता के साथ पुरुषार्थ जारी रखना

इस साधन के प्रकट करने के लिए किन्हीं घटनाओं का उल्लेख करना सर्वथा अनावश्यक है। ऋषि दयानन्द का समस्त जीवन ही इसका जीता जागता उदाहरण है। एक क्षण भी हम उनके जीवन में नहीं पाते जिसमें

उन्होंने 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' का पाठ सुलाया हो। स्वामी दयानन्द सच्चे कर्म-योगी थे। कर्तव्य समझ कर कर्म करना, फल की ज़रा भी इच्छा न करना उनके जीवन का आदर्श था।

आर्य बन्धुओ! आओ हम भी इन तीनों साधनों को अपने हृदय-पटल पर अङ्कित करें और उन्हें अपने जीवन का आदर्श बनावें। यही कल्याण का मार्ग है, यही श्रेय का पथ है।

———

मनुष्य के तीन प्रधान कर्त्तव्य
और
उनकी पूर्ति के साधन

मनुष्य कर्त्तव्य की पूर्ति के लिए कर्त्तव्य (मनुष्य) योनि में आया करता है। कर्त्तव्य तीन हैं जिनकी पूर्ति उसको करनी होती है (१) उसे अपने साथ क्या करना चाहिए ? (२) अन्यों के साथ क्या करना चाहिये ? (३) ईश्वर के साथ क्या करना चाहिए ? इन्हीं कर्त्तव्यों का विधान ब्रह्मयज्ञ अर्थात् वैदिक सन्ध्या में है, मुख्य सन्ध्या आचमन (शन्नो देवी) मन्त्र से प्रारम्भ होकर नमस्कार मन्त्र के साथ समाप्त होती है।

'शन्नो देवीरभिष्टय' इत्यादि मन्त्र में सन्ध्या का उद्देश्य वर्णित है। मन्त्र का भाव यह है कि "परमेश्वर जो सर्वप्रकाशक और सर्वव्यापक है, इच्छित फल और आनन्द की प्राप्ति के लिए हम पर कल्याणकारी हों और हम पर सुख की वर्षा करें"—संसार में मनुष्य इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए तीनों कर्त्तव्यों का पालन किया करता है। मनुष्य-जीवन का उद्देश्य यदि दो शब्दों में वर्णन कर देना हो, तो इस प्रकार कहा जा सकता है कि मनुष्य को दुनियाँ में अपना जीवन इस प्रकार व्यतीत करना चाहिए कि जब वह यहाँ से रुख़सत हो

तो उसे दुनिया के हर्ष-समुदाय, खुशी के मजमुए (Happiness के Total) में कुछ वृद्धि करके जाना चाहिए। मन्त्र में इसी हर्ष की मात्र वृद्धि के लिए ईश्वर से प्रार्थना की गई है। इस प्रकार आचमन मन्त्र द्वारा तीनों कर्त्तव्यों का उद्देश्य वर्णन कर देने के बाद उन तीनों कर्त्तव्यों का विधान किया गया है। पहला कर्त्तव्य, कि मनुष्य को अपने साथ क्या करना चाहिये, इन्द्रिय-स्पर्श मन्त्र से प्रारम्भ हो कर अघमर्षण मन्त्रों तक समाप्त होता है। दूसरा कर्त्तव्य 'मनसापरिक्रमा' के ६ मन्त्रों में वर्णित है। तीसरे और अन्तिम कर्त्तव्य का उपदेश उपस्थान के मन्त्रों में किया गया है। अब उनका क्रमशः वर्णन किया जाता है:—

पहला कर्त्तव्य

मनुष्य को अपने साथ क्या करना चाहिये ?

इन्द्रियस्पर्श के मन्त्र में इन्द्रियों का स्पर्श करते हुए प्रार्थना की गई है कि उनमें बल आवे। यह मनुष्य का अपने साथ पहला कर्त्तव्य है। उसे अपनी इन्द्रियों को बलवान् बनाना चाहिये। मनुष्य का बाह्य शरीर इन्द्रियमय अर्थात् इन्द्रियों का समुदाय मात्र है। इस बाह्य शरीर अर्थात् समस्त ज्ञान और कर्मेन्द्रियों को बलवान् बनाना चाहिये। आँख, नाक, कान, हाथ, पाँव आदि दशों इन्द्रियों को बलवान् बनाना कर्त्तव्य है। स्पर्श करने का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक इन्द्रिय पर

विशेष ध्यान देकर—इच्छा-शक्ति का उस पर प्रयोग करके—मन में यह विचार स्थिर करना चाहिए कि स्पृष्ट (कृतस्पर्श) इन्द्रिय में बल आ रहा है। बल की इतनी अधिक उपयोगिता है कि अपने सम्बन्धी कर्त्तव्यों में उसका सब से पहला स्थान है। उपनिषद् में कहा गया है कि "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"(मुण्डकोपनिषद् ३ ॥ २॥४) अर्थात् जो मनुष्य निर्बलात्मा और निर्बलेन्द्रिय है वे ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकते। परन्तु बल का जहाँ सदुपयोग होता है वहाँ दुरुपयोग भी हो सकता है। अन्याय और अत्याचार बल ही से किये जाते हैं। इसलिये बल के लिये नियन्त्रण अपेक्षित है, और इसी उद्देश्य की पूर्ति के वास्ते मनुष्य का दूसरा कर्त्तव्य इसी स्पर्श-मन्त्र में यह स्थिर किया है कि उसे अपनी इन्द्रियों को यशवाला भी बनाना चाहिये। बल के साथ यश को जोड़ देने से बल का नियन्त्रण हो गया। अब बल का दुरुपयोग नहीं हो सकता।

अन्याय और अत्याचार करने वाले नेकनाम नहीं होते, सदैव बदनाम रहा करते हैं। संसार में यश और कीर्ति उन्हीं की हुआ करती है जो बल का सदुपयोग किया करते हैं। यश इसलिये अनिवार्य्य है। प्रसिद्ध कहावत है "कीर्तिर्यस्य स जीवति"—अर्थात् वह मनुष्य मर जाने पर भी ज़िन्दा ही समझा जाता है

जिसका संसार में यश रहा करता है। अस्तु, मनुष्य का जहाँ पहला कर्त्तव्य यह है कि अपने को बलवान् बनावे उसके साथ ही दूसरा कर्त्तव्य यह है कि अपनी इन्द्रियों को यशवाला भी बनावे। मनुष्य को अपने साथ तीसरी बात क्या करनी चाहिये, इसका आदेश मार्जन-मन्त्र में किया गया है। मार्जन मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि उसके शिर नेत्रादि इन्द्रियों में पवित्रता आवे, यही अपने साथ करने के लिये तीसरा कर्त्तव्य है। मनुष्य को अपनी समस्त इन्द्रियों को पवित्र बनाना चाहिये। इन्द्रियों में पवित्रता आने से मनुष्य का आचार ठीक हुआ करता है और मनुष्य सदाचारी समझा जाया करता है। पवित्रता से इन्द्रियों का नियन्त्रण हुआ करता है। यदि नेत्र पवित्र हैं तो इसका भाव यह है कि वह "मातृवत् परदारेषु" की नीति के अवलम्ब के साथ ठहरा हुआ और किसी को कुदृष्टि—पाप—से नहीं देख सकता। पवित्रता से स्वस्थता भी प्राप्त हुआ करती है। मनु ने कहा है "अद्भिर्गात्राणि शुद्धयन्ति", अर्थात् जल से शरीर शुद्ध हुआ करता है। किस प्रकार शरीर की शुद्धि से मनुष्य स्वस्थ हुआ करता है इस पर थोड़ा विचार करो। हमारा यह शरीर असंख्य छिद्रों से पूर्ण है। इन छिद्रों से शरीर का भीतरी मल पसीने द्वारा खारिज हुआ करता है। जिस प्रकार कारखानों में दिन-रात काम होने से बहुत-

सा मल बाहर फेंक देने के योग्य निकला करता है, इसी प्रकार शरीर-रूपी कारखाने में निरन्तर काम होने से कई पौंड मल, मूत्र और पसीने के रूप में, निकला करता है। तीनों मार्ग शुद्ध और साफ होने चाहिये, तभी यह मल खारिज होकर शरीर शुद्ध हो सकता है। इसलिये मनुष्य का कर्त्तव्य है कि शरीर को जल से स्नान द्वारा शुद्ध रक्खे। शुद्ध रखने का मतलब यह है कि शरीर अच्छी तरह मल-मल कर साफ किया जावे जिससे प्रत्येक छिद्र का मुँह साफ खुला हुआ और इस योग्य हो जावे कि सुगमता से भीतर का मल बाहर निकाल सके। स्नान न करने अथवा नाममात्र के लिए स्नान करने से छिद्र का मुँह मल से बन्द-सा रहेगा और भीतर का मल बाहर न निकल सकने से वह भीतर ही रह कर अनेक रोगों की उत्पत्ति का कारण बनेगा। इसी प्रकार विचार करने से पता चलेगा कि प्रत्येक इन्द्रिय की शुद्धि से उनकी नीरोगता बनी रहती है। इसलिए अपने सम्बन्ध में करने के लिए मनुष्य का तीसरा कर्त्तव्य यह है कि वह अपनी इन्द्रियों को शुद्ध रक्खे। इन्द्रियों (बाह्य शरीर) के शुद्ध रखने के संबन्ध में मनुष्य के इस प्रकार तीन कर्त्तव्य हैं:—

(१) इन्द्रियों को बलवान् बनाना।

(२) इन्द्रियों को यशवाला बनाना।

(३) इन्द्रियों को पवित्र बनाना।

इन कर्त्तव्यों के पालन कर लेने से इन्द्रियों (बाह्य शरीर के) सम्बन्ध में मनुष्य का कर्त्तव्य पूरा हो जाता है।

दूसरा कर्त्तव्य

मनुष्य को अन्यों के साथ क्या करना चाहिये ?

सन्ध्या के मनसा परिक्रमा के ६ मन्त्रों में इस दूसरे कर्त्तव्य का विधान किया गया हैं। मनसा परिक्रमा का भाव यह है कि मन में ईश्वर के सभी दिशाओं में परिपूर्ण होने (सर्वव्यापकत्व) के भावों को जागृत कर लेना। इन मंत्रों में ईश्वर को न केवल सम्पूर्ण दिशा में परिपूर्ण देखा गया है किन्तु उसे इस रूप में भी देखा गया है कि वह सभी ओर से हमारी रक्षा करता है। ऐसे रक्षक प्रभु को नमस्कार करते हुए उस से याचना की गयी है कि—

योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं
वो जम्भे दध्मः ॥

जो कोई हमसे द्वेष करता है और जिस किसी से हम द्वेष करते हैं ईश्वर आप उस द्वेष को नष्ट कर देवें, जिससे न हम किसी से द्वेष कर सकें और न कोई हम से द्वेष कर सके। जाति या समाज में झगड़ों के उत्पन्न होने का कारण परस्पर का ईर्ष्या द्वेष ही

हुआ करता है। यदि यह ईर्ष्या-द्वेष बाकी न रहे तो फिर सभी प्रकार के झगड़े शान्त हो सकते हैं। झगड़ों के शान्त हो जाने से सद्भाव स्थापित होकर परस्पर भ्रातृ-प्रेम उत्पन्न होकर चिरस्थायिनी शान्ति की उत्पत्ति होती है। यहाँ पर स्वाभाविक रीति से प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि सन्ध्या तो हम करते हैं, इसलिए यह संभव हैं कि हमारे भीतर से अन्यों के प्रति द्वेषभाव का नाश हो जाय, परन्तु अन्यों के हृदय का द्वेष किस प्रकार नष्ट हो सकता है। और इसी प्रश्न का ठीक उत्तर न समझ कर कोई उपर्युक्त वाक्य का अर्थ यह किया करते हैं कि जो हमको द्वेष करता है और जिसको हम द्वेष करते हैं उस व्यक्ति का ईश्वर नाश कर देवें, परन्तु मेरी तुच्छ सम्मति में इस प्रकार के अर्थ से जहाँ मंत्र का उच्चभाव नीचा होता है वहीं पक्षपात की भी गंध आती है। द्वेष असल में पातक है, किसी को किसी से नहीं करना चाहिए, और जहाँ भी इस (द्वेष) का अस्तित्व हो, वह नष्ट होना चाहिए। योगदर्शन में कहा गया है—"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः" अर्थात् जब मनुष्य मन, वाणी और अमल तीनों से अहिंसक हो जाता है तो उसके लिए सभी वैर का त्याग कर देते हैं। यदि इस मर्यादा के अनुसार एक प्राणी अपने हृदय को द्वेष से ख़ाली कर लेता है तो उसका

आवश्यक फल यह होगा कि उसकी निर्दोषता उसकी आँखों, उसकी आकृति और उसकी सभी बातों से अन्यों पर प्रकट होने लगेगी, और आवश्यक रीति से उसका प्रभाव अनुभू (अनुभव कर्ता) पर यह होगा कि उसका हृदय भी ऐसे व्यक्ति के लिए द्वेपरहित हो जायगा। जगत् में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है। भेड़िये बच्चों को खाने के लिए उठा ले जाते हैं परन्तु बालकों की निर्दोष आँखों का उन पर प्रभाव यह पड़ता है कि बजाय मारने के वे उनकी परवरिश करने लगते हैं। ऐसे अनेक बच्चे, जिनका पालन-पोषण भेड़ियों ने किया था, बरेली अनाथालय तथा अन्य स्थानों पर आ चुके हैं और अनेक पुरुष स्त्रियों ने उन्हें अपनी आँखों से देखा भी है। "हर्षचरित" में आता है कि राजा हर्षवर्धन जब दिवाकर की तपोभूमि में गये तो उन्होंने हिंसा त्यागे हुए एक शेर को देखा जो आश्रमवासियों के साथ मिल-जुलकर रहा करता था। अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान् थोरियो (Thoreau) के लिये भी कहा गया है कि साँप, बिच्छू, शहद की मक्खी आदि उसके शरीर के सम्पर्क में आ जाने पर भी उसको कष्ट नहीं देती थीं। इसलिए सन्ध्या करने वालों के लिए आवश्यक है कि वे अन्यों का विचार छोड़ कर अपने हृदय को दोषरहित करने

का यत्न करें। इसलिए एक बार की सन्ध्या में इस आवश्यक बात को ६ बार दुहराया गया है। ऐसा कर लेने से वे अपने उस कर्त्तव्य का पालन कर सकेंगे जो उनको अन्यों के संबन्ध में पूरा करना है। जिस समय उनके हृदय अन्यों के लिए द्वेषरहित हो जावेंगे तो अन्य आवश्यक बातें, जो समाज या जाति बनाने के लिए अपेक्षित हैं, वे उनका स्वयमेव पालन करने लगेंगे।

तीसरा कर्त्तव्य

मनुष्य को ईश्वर के सम्बन्ध में क्या करना चाहिए ?

सन्ध्या में आये उपस्थान के मन्त्रों में इस तीसरे कर्त्तव्य का, कि मनुष्य को ईश्वर के सम्बन्ध में क्या करना चाहिए, विधान है। उपस्थान और उपासना प्रायः पर्य्यायवाचक से हैं, और दोनों का एक ही भाव है अर्थात् ईश्वर के समीप होना।

मनुष्य को ईश्वर के समीप होने की क्यों ज़रूरत है और क्यों उसे ईश्वर की उपासना करनी चाहिये ? इसका कारण यह नहीं है कि ईश्वर हमारी उपासना का इच्छुक है, बल्कि इसका हेतु और मुख्य हेतु यह है कि मनुष्य के अधिकार में अपने को अच्छा बनाने के जितने साधन हैं उसमें यह श्रेष्ठतम साधन है। मनुष्य अपने जीवन का कुछ उद्देश्य रखता है जिसका वर्णन इस लेख के प्रारम्भ में हो चुका है। उद्देश्य की पूर्ति के

लिये आदर्श की ज़रूरत होती है। अच्छे से अच्छे मनुष्य का आदर्श ही क्यों न हो वह त्रुटि से रहित नहीं हो सकता। परन्तु ईश्वर का आदर्श सदैव त्रुटि-रहित होता है। इसलिये ईश्वर को आदर्श रूप में रख कर उसके गुणों को अपने भीतर लाने के लिये उनका सार्थक जप करना चाहिये। उन गुणों के अर्थ की भावना मन में करने से जैसी कि जप की मर्यादा है—

तज्जपस्तदर्थभावना (योगदर्शन)

मनुष्य के भीतर उन गुणों का प्रभाव पड़ता है और क्रमशः वे उसके भीतर आने लगते हैं। जितने २ गुणों का समावेश मनुष्य की आत्मा में इस प्रकार होता जावेगा उतना ही वह ईश्वर के समीप होता जावेगा, और जितना समीप होता जावेगा उतना ही अधिक गुणवान् बनता जावेगा। यही तीसरे कर्तव्य की पूर्ति का मूल उद्देश्य है।

तीन आवश्यक साधन

इन तीनों कर्त्तव्यों के पालन करने के लिये तीन बातो की ज़रूरत हुआ करती है:—

पहली आवश्यकता—मनुष्य के पास समय होना चाहिये जिसमें इन कर्तव्यों की पूर्ति का यत्न किया जा सके। इसीलिये उपस्थान के चौथे मन्त्र में १०० वर्ष की आयु-प्राप्ति की प्रार्थना की गई है—इसका भाव यह नहीं

है कि मनुष्य १०० वर्ष तक निरन्तर ईश्वरोपासना ही किया करे और कुछ न करे। इस १०० वर्ष की आयु में सन्ध्या के लिये वास्तव में बहुत थोड़ा समय रक्खा गया है। दिन के २४ घंटों में केवल २ घंटे प्रातः और सायं-काल मनुष्य को ईश्वरोपासना और आत्म-चिन्तन में व्यतीत करने चाहियें—बाकी समय में वह जो चाहे। कर सकता है।

सन्ध्या दो समय ही करनी चाहिए

सन्ध्या दो ही समय करनी चाहिये—३, ४, ५, ६ वार नहीं। कोई मनुष्य यदि योगी बन कर चाहे तो वह सारी आयु ईश्वर-चिन्तन में लगा सकता है। इसका कभी निषेध नहीं किया जा सकता। परन्तु सन्ध्या का वह नियम जिसे प्रत्येक प्राणी पालन कर सके, यह है कि आवश्यक रीति से प्रातः-सायं प्रत्येक नर-नारी को सन्ध्या करनी चाहिये। इसके लिए कुछेक प्रमाण दिये जाते हैं:—

प्रमाण

सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनस्य दाता
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वपुषेम ॥१॥
अथर्व० १६।५५।३॥

शब्दार्थ—(सायं सायम्) सायंकाल (नः) हमारे (गृहपतिः) घरों का रक्षक और (प्रातः प्रातः) प्रातः-

काल (सौमनस्य) सुख का (दाता) देने वाला (अग्निः) ईश्वर (वसोर्वसोः) उत्तम २ प्रकार के (वसुदानः) ऐश्वर्य देने वाला (एधि) हो, इन दोनों कालों में (त्वा) तुझको (इन्धानाः) प्रकाशित करते हुए (वयम्) हम लोग (तन्वम्) शरीर को (पुष्टम्) पुष्ट करें ।

प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायं सायं सौमनस्य दाता । वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतं हिमा ऋधेम ॥२॥

अथर्व० १९।५५।४॥

अर्थात्—प्रातःकाल हमारे घरों का रक्षक और सायंकाल सुखदाता ईश्वर उत्तम प्रकार के ऐश्वर्य्य का देने वाला हो । (त्वा) आप का (इन्धाना) प्रकाश फैलाते हुए (शतं हिमाः) सौ वर्ष तक (ऋधेम) हम उन्नति करते रहें ।

उपत्वाऽग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम् । नमो भरन्त एमसि ॥३॥

सामवे० १ । १।२।४॥

अर्थात्—हे (अग्ने) ईश्वर (दिवेदिवे) प्रतिदिन दोपावस्तः) प्रातः सायम् (धिया) भक्ति से (नमः) नमस्कार (भरन्तः) करते हुए (वयम्) हम (उप त्वा) आपके समीप (आ+इमसि=एमसि) आते हैं—

तस्मादहोरात्रस्य संयोगे ब्राह्मणः संध्यामुपासीत ।